ॐ

नमः सिद्धेभ्य

परिभ्रमण के प्रत्याख्यान

`श्रीमद् राजचंद्र' पत्रांक - १९५, १२८
एवं २६४ पर विवेचन

विवेचक
आत्मज्ञ पूज्य भाईश्री' शशीभाई
भावनगर

प्रकाशक
वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
भावनगर

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :

- **वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट**
  ५८०, जूनी माणेकवाड़ी,
  भावनगर-३६४००१
  फोन : (०२७८) २४२३२०७ / २५१५००५
- **गुरु गौरव**
  श्री कुन्दकुन्दकहान जैन साहित्य केन्द्र,
  पूज्य सोगानीजी मार्ग, सोनगढ़
- **श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान जैन ट्रस्ट**
  विमलांचल, हरिनगर, अलीगढ़
  फोन : (०५७१) ४१००१०/११/१२
- **श्री खीमजीभाई गंगर (मुंबई) : (०२२) २६१६१५९१**
  श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाटा) : (०३३) २४७५२६९७
  अमी अग्रवाल (अहमदाबाद) : (०७९) R-२५४५०४९२, ९३७७१४८९६३

प्रथमावृत्ति : प्रत : १५०, अप्रैल १९९९,
द्वितीयावृत्ति : प्रत : ५००, अप्रैल २००१, तृतीयावृत्ति : प्रत : १०००
चतुर्थावृत्ति : प्रत : ५००, ३१-१२-२००७, (कुंदकुंदाचार्य आचार्य पदवी दिन)
पृष्ठ संख्या : १२ + १८० = १९२
लागत मूल्य : ३०/-
बिक्री मूल्य : २५/-

टाईप सेटिंग :
पूजा इम्प्रेशन्स
प्लोट नं. १९२४-बी,
६, शान्तिनाथ बंगलोझ
शशीप्रभु मार्ग, रुपाणी सर्कल के पास
भावनगर-३६४००१
फोन : (०२७८) २५६१७४९

मुद्रक :
भगवती ऑफसेट
१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड
बारडोलपूरा,
अहमदाबाद
फोन : ९८२५३२६२०२

प्रकाशकीय निवेदन

(तृतीयावृत्ति)

यह `परिभ्रमण के प्रत्याख्यान' नामसे लघुकाय ग्रंथ - परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीके पत्रांक : १९५, १२८, और २६४ (बीस दोहे) के ऊपर प्रत्यक्ष उपकारी परम पूज्य `भाईश्री' शशीकान्तभाई शेठ, भावनगर के द्वारा अद्‌भुत मार्मिक शैलीमें हुए प्रवचनोंका एक अनूठा संकलन है। जो दर्शनमोह (मोहराजा) का पराजय करनेके लिये प्रथम प्रहाररूप है। तथापि मुमुक्षुताकी यथार्थ शुरूआत एवं मोक्षमहलके मंगल शिलान्यासके लिये परम हितकारी मार्गदर्शन भी इसमें प्रस्थापित है। इसके अलावा ग्रंथके अंतमें मुमुक्षुकी भूमिकामें दर्शनमोह कब और कैसे-कैसे बढ़ता-घटता है, तत् सम्बन्धित दुर्लभ मार्गदर्शन भी उपलब्ध है जो कि इतना स्पष्टरूपसे अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

यद्यपि हमलोग सब जानते ही हैं कि हमारे परम तारणहार पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी भी परम कृपालुदेवके वचनोंसे कितने प्रभावित थे और कितनी-कितनी उनकी महिमा करते थे। अगर कोई नया मुमुक्षु पूछ लेता था कि शुरूमें किस ग्रंथका स्वाध्याय करें? तो पूज्य गुरुदेवश्री कहते थे कि `श्रीमद्' पढ़िये। इसके अतिरिक्त प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन भी मुमुक्षुदशामें `श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथका स्वाध्याय करती थी और हमारे प्रत्यक्ष उपकारी निष्कारण करुणावंत पूज्य `भाईश्री' को भी आत्मज्ञान इसी ग्रंथके निमित्तसे हुआ था।

परम कृपालुदेवके ऐसे चमत्कारिक वचनयोगमें अनेक जगह

मुमुक्षुताका वृद्धिक्रम प्रस्थापित हुआ है, किन्तु वह क्रमका विषय पहले-पीछे किस तरह आता है उसको स्वयंकी विशेष प्रज्ञासे मुमुक्षुताके आरोहण क्रमको प्रसिद्ध करके वर्तमान एवं भावि सर्व सामान्य मुमुक्षुजीवों पर पूज्य भाईश्रीने अति-अति उपकार किया है, और मुमुक्षुके व्यर्थ परिश्रमको बचाकर आत्महितके कार्यको सुगम कर दिया है।

इस क्रम के प्रथम चरणमें संसारकी उपासनाका अभिप्राय सर्वथा नष्ट करके `अब परिभ्रमण करना ही नहीं है' वैसा `परिभ्रमण का प्रत्याख्यान' कैसे लिया जाता है उसका तादृश्य चितार इस ग्रंथमें प्ररूपित है कि जिसको उपकारबुद्धि वशात् प्रसिद्ध करते हुए हम अत्यंत गौरवान्वित हो रहे हैं।

इस ग्रंथमें प्रसिद्ध प्रवचनोंका ओडियो कैसिट परसे शब्दश: लिखनेका कार्य करनेवाले श्री डोलरभाई हेमाणी, कलकत्ता तथा अन्य मुमुक्षुभाई जिन्होंने एडीटींग, प्रूफ रीडिंग इत्यादि कार्यमें सहयोग दिया है उन सबके हम आभारी हैं। तथापि इस ग्रंथके सुंदर टाईप सेटिंग के लिये पूजा इम्प्रेशन्स, भावनगर एवं सुंदर मुद्रणकार्य के लिये भगवती ऑफसेट, अहमदाबादके भी हम आभारी हैं।

अंतत: इस लघुकाय ग्रंथका विषय सर्व मुमुक्षुजीवोंको चरितार्थ हो ऐसी भावना भाते हैं।

दि. ३१-१२-२००७
(कुंदकुंदाचार्य आचार्य पदवी दिन)

ट्रस्टीगण
वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
भावनगर

उपोद्घात

एक महान् समस्या और उसका निराकरण

इस विश्वमें समस्याके असंख्य प्रकार हैं। परंतु जीवकी सबसे बड़ी समस्या अनंतकालसे जन्म-मरण करके, परिभ्रमण हो रहा है, यह है। विधिकी सबसे बड़ी विचित्रता भी यह है कि, जीव छोटी-मोटी समस्याओंकी चिंतासे घिरा हुआ रहता है अतएव महान् समस्याका अनादिसे विस्मरण हो रहा है। अरे ! ऐसी कोई समस्या है और उसका समाधान प्राप्त करना आवश्यक है-उसकी भी अधिकांश जीवोंको खबर नहीं है।

जिसका होनहार अच्छा है वैसा कोई जीव, किसी महत्पुण्योदयसे सत्संगमें आता है तब उसे समूचा संसार केवल दुःखमय लगता है; तथा `मेरा' परिभ्रमण हो रहा है व अब भी परिभ्रमणके कारणरूप परिणाम वर्त रहे हैं-ऐसा लगने लगता है; और उस जीवको परिभ्रमणसे छूटने का भाव आता है अर्थात् अपना हित करनेका भाव जगता है। तब वह जीव अपने दोषकी ओर दृष्टि करता है। उसमें उसे यों लगता है कि - `मेरा परमें अपनेपनका जो भाव है, वही परिभ्रमण करवाता है। परमें निजत्वके भावके कारण मैं परकी चिंतासे अबतक घिरा हुआ रहा और इसीलिये परिभ्रमणकी समस्या विस्मृत रही; यह बड़ी भारी गंभीर भूल हुई।'-ऐसी यथार्थ समझसे, वह स्वयं

तय करता है कि `मुझे अब किसी भी कीमत पर परिभ्रमण नहीं करना है'- इस निश्चयसे वह अपने दोष देखना शुरू करता है तब अपने दोष दिखाई देने लगते हैं और ज्यों-ज्यों वैसा प्रयास बढ़ता है त्यों-त्यों सूक्ष्मता आने लगती है। तथापि उदय-प्रसंगमें जो कुछ राग-द्वेष, हर्ष-शोक हुआ करता है तथा जितना कुछ विभावरस दिखता है, उसका पश्चाताप इस प्रकारसे होता है कि - मुझे तो परिभ्रमणसे छूटना है तिसपर भी परिभ्रमण करानेवाले ऐसे परिणाम होते हैं सो मुझे नहीं चाहिए। यों करते करते सहजरूपसे उसकी वेदना शुरू हो जाती है।

उक्त प्रकारसे वेदना बढ़कर तीव्र होती है तब अधिक उदासीनता वर्तती है। और उसका कहीं भी मन नहीं लगता। खाना-पीना, किसीके साथ मिलना-जुलना, बातचीत करना नहीं रुचता। कोई आ जाए तो वह बोझरूप लगे और बेचैन...बेचैन रहा करे। वह बेचैनी यहाँ तक बढ़ जाती है कि निद्रा भी नहीं आती। - ऐसी बेचैनी और वेदनाके दौरान ऐसा निर्णय लिया जाता है कि `अब मुझे इस संसारमेंसे कुछ नहीं चाहिए।' - जो कोई पदार्थ जुटानेकी वृत्ति उठे तो वह आकुलतामय लगती है। और जो-जो इच्छाएँ हों उनमें आकुलताका ही अनुभव होता है। - ऐसी तीव्र वेदनाके कालमें चारों प्रकारके (समाज, कुटुम्ब, शरीर और संकल्प-विकल्प) प्रतिबंध शिथिल हो जाते हैं। अधिकतर यह वेदना बहुत दिन चलती है, जिसके कारण अंत:करणकी शुद्धि होती है। दो-चार दिन चली हुयी वेदना प्राय:कर यथार्थ नहीं होती किंतु वह भावुकतामय होती है। परंतु लंबे समय तक चली हुई वेदना, अत्यंत उदासीनतापूर्वक, पूर्ण शुद्धिके लक्ष्यमें परिणमित होती है।

ऐसी वेदनावाले मुमुक्षुके परिणमनको देख कर भी दूसरे जीवको

तद्रूप परिणमन आता है; तब उसे ऐसा दिखाई देता है कि - इस जीवको परिभ्रमणकी कैसी थकान लगी है ! मुझे तो अब भी संसारमें रस पड़ता है, इसलिये अब भी मैं परिभ्रमणसे नहीं थका हूँ, इत्यादिक विचारणासे उसपर असर आता है। और इस भाँति यह जीव, परिभ्रमणकी यथार्थ वेदनामें आता है।

ऐसे समयमें उसको एक मार्गदर्शक पुरुषकी आवश्यकता पड़ती है। उसमें स्वयंको यों लगता है कि `मैं संसारसमुद्रके मध्यमें डूब रहा हूँ। उसमेंसे सत्पुरुष मुझे डूबते हुएको बचा सकेंगे। इसलिये ज्ञानीपुरुषके आश्रयसे ही मेरा परिभ्रमण मिटेगा। अन्य कोई उपाय है ही नहीं।' - ऐसी सूझ अंतरसे आती है। जब ऐसी सूझ आती है तब प्राय: उसको ज्ञानीपुरुषका अंतरपरिणमन दिखाई देता है। और उनके हृदयमें बिराजमान परमात्माके दर्शन होते हैं जिसके कारण ज्ञानीपुरुषमें परमेश्वरबुद्धि होती है। सर्वार्पणबुद्धिपूर्वक अपूर्व स्नेह व अचल प्रेमसे वह सत्संगको आराधता है। एवं सत्पुरुषके प्रति परम प्रेमार्पणभाव वर्तनसे परिणामोंकी निर्मलता आती रहती है। जो कदाचित् उपकारी सत्पुरुषके वियोगमें एक घड़ी बितानी पड़े तो अत्यंत कष्टपूर्ण लगता है। तथा सत्संगके संयोगमें या वियोगमें, परिभ्रमण मिटानेका, निरंतर लक्ष्य और प्रयास चलता है।

इस भूमिकामें अमुक अंशमें निर्मलता आनेसे अंतरसे - जो-जो असमाधान होते हैं उनका समाधान, निर्मलताके कारण, सहज आता है। तथा आगे क्या करना ? - उसकी सूझ आने लगती है, ज्ञानमें विवेक आने लगता है और वह जीव आगे बढ़ता जाता है।

ऐसा नहीं है कि मात्र प्रतिकुलता देखकर ही परिभ्रमण दिखाई पड़ता है; किंतु अनुकूलतामें फँसते हुए जीवोंको देखकर भी वह

परिभ्रमणका ही कारण दिखता है; जिससे अपने हितरूप कार्य करनेमें शीघ्रतावाले परिणाम रहा करते हैं, अर्थात् वह जीव शिथिल होकर बैठा नहीं रहता, बल्कि उसको स्वकार्यकी उत्कटता व लगन लगती है एवं परिपूर्ण निर्दोष होनेका निर्धार सहज होता है; जिसमें दोष का एक कण (अंश) भी कलंकरूप जानकर `वह नहीं चाहिए' और तदर्थ ज्ञानीपुरुषकी आज्ञासे चलनेकी वृत्ति रहती है। एवं ज्ञानीपुरुषका परिणमन देखकर स्वयंको भी वीर्योल्लास आता है जिसके कारण अपने आत्महितकी नि:शंकता उत्पन्न होती है।

- परमोपकारी पूज्य भाईश्री

जिसकी भली होनहार है उसी जीवको ऐसा विचार आता है कि `मैं कौन हूँ ?' मैंने कहाँसे आकर यहाँ जन्म लिया है ? मर कर कहाँ जाऊँगा ? मेरा क्या स्वरूप है ? यह कैसा चरित्र - निर्माण हो रहा है ? आदि। वह इनके निर्णयमें लगता है कि आत्मा, शून्यमेंसे आया है अथवा पूर्व-भवमेंसे आया है ? मैंने कौनसे कुलमें जन्म लिया है ? मैं कौन हूँ तथा मर कर कहाँ जाऊँगा अर्थात् इस देहके छूटने पर कहाँ स्थिति होगी ? ऐसा विचारवान श्रोता होना चाहिये। मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है ? और यह सब वर्तन कैसे हो रहा है ? खाना-पीना, व्यापार - धंधा आदि हो रही क्रियाएँ क्या हैं ? मुझे ये जो भाव होते हैं अर्थात् कुटुम्ब-व्यापार-शरीरादि सम्बन्धित होनेवाले पाप-भावोंका क्या फल होगा ? और यह जीव कैसे दुःखी हो रहा है - ऐसे विचार करनेवाला ही योग्य श्रोता है। जिसको दुःख ही नहीं लगता वह पात्र श्रोता नहीं है।

-पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(परमागमसार - ९७७)

भवभ्रमण चलता रहे ऐसे भावमें यह भव व्यतीत होने देना योग्य नहीं है। भव के अभावका प्रयत्न करनेके लिये यह भव है। भवभ्रमण कितने दु:खोंसे भरा है उसका गंभीरतासे विचार तो कर ! नरकके भयंकर दु:खोंमें एक क्षण निकलना भी असह्य लगता है वहाँ सागरोपम कालकी आयु कैसे कटी होगी ? नरकके दु:ख सुने जाएँ ऐसे नहीं है। पैरमें काँटा लगने जितना दु:ख भी तुजसे सहा नहीं जाता, तो फिर जिसके गर्भमें अनन्तान्तगुने दु:ख पड़े हैं ऐसे मिथ्यात्वको छोड़नेका उद्यम तू क्यों नहीं करता ? गफलतमें क्यों रहता है ? ऐसा उत्तम योग पुन: कब मिलेगा ? तू मिथ्यात्व छोड़नेके लिये जी-जानसे प्रयत्न कर, अर्थात् साता-असातासे भिन्न तथा आकुलतामय शुभाशुभभावोंसे भी भिन्न ऐसे निराकूल ज्ञायक स्वभावको अनुभवनेका प्रबल पुरुषार्थ कर। यही इस भवमें करने योग्य है।

-पू. बहिनश्रीके वचनामृत - ४१६

`परिभ्रमणका प्रत्याख्यान'
प्रवचन अनुक्रमणिका

प्रवचन क्रमांक	पत्रांक नंबर	पृष्ठ संख्या
०१.	पत्रांक-१९५	००१
०२.	पत्रांक-१२८	०१२
०३.	पत्रांक-१२८	०३८
०४.	पत्रांक-१२८	०५४
०५.	पत्रांक-१२८	०७४
०६.	पत्रांक-१२८	०९५
०७.	पत्रांक-१२८	१०७
०८.	पत्रांक-२६४	१२६
०९.	प्रयोजन सिद्धि	१४८

परिभ्रमणकी वेदनाके बिना, परिभ्रमण करनेका अभिप्राय जीवको चालू रहता है। परिभ्रमणके कारणभूत मिथ्यात्व और अज्ञानका यथार्थ निषेध नहीं आता और इसलिये संसारकी रुचि - प्रीति चालू रहती है। परिभ्रमणकी वेदनासे संसारकी रुचि यथार्थरूपसे मंद होती है। जिससे उदयमें उत्साह नहीं रहता । परिभ्रमणकी वेदनासे परिभ्रमण नहीं करना है, ऐसा अभिप्राय बनता है।

-पूज्य भाईश्री

`मैं ज्ञानमात्र हूँ'

सुखधाम अनंत सुसंत चही,
दिनरात रहे तद्ध्यान महीं;
प्रशांति अनंत सुधामय जे,
प्रणमुं पद ते वरते जयते.

पावन मधुर अद्भुत अहो ! गुरुवदनथी अमृत झर्यां,
श्रवणो मळ्यां सद्भाग्यथी नित्ये अहो ! चिद्रस भर्यां.
गुरुदेव तारणहारथी आत्मार्थी भवसागर तर्यां,
गुणमूर्तिना गुणगणतणां स्मरणो हृदयमां रमी रह्यां.

हुं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदर्शनमय खरे;
कंई अन्य ते मारुं जरी, परमाणुमात्र नथी अरे.

सहजात्मस्वरूप सर्वज्ञदेव परमगुरु

श्रीमद् राजचंद्र

पत्रांक - १९५

बंबई, पौष १९४७

सत्स्वरूपको अभेदरूपसे अनन्य भक्तिसे नमस्कार

जिसे मार्गकी इच्छा उत्पन्न हुई है, उसे सब विकल्पोंको छोड़कर इस एक विकल्पको वारंवार स्मरण करना आवश्यक है -

``अनन्तकालसे जीवका परिभ्रमण हो रहा है, फिर भी उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती ? और वह क्या करनेसे हो ?''

इस वाक्यमें अनंत अर्थ समाया हुआ है; और इस वाक्यमें कही हुई चिंतना किये बिना, उसके लिये दृढ होकर तरसे बिना मार्गकी दिशाका भी अल्प भान नहीं होता; पूर्वमें हुआ नहीं; और भविष्यकालमें भी नहीं होगा। हमने तो ऐसा जाना है। इसलिये आप सबको यही खोजना है। उसके बाद दूसरा क्या जानना ? वह मालूम होता है।

श्रीमद् राजचंद्र
पत्रांक-१९५

प्रवचन-१
दि-२५-८-९७

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत पत्रांक १९५) पत्रका heading (शीर्षक) है ``**सत्स्वरूपको अभेदरूपसे अनन्य भक्तिसे नमस्कार**।'' सत्स्वरूप माने जो त्रिकाल सत् रूप है, माने मौजूद है; जिसकी मौजूदगी त्रिकाल है उसको कहते हैं त्रिकालीक सत्। ऐसा जो अपना स्वरूप, उसको अभेदरूपसे नमस्कार। माने मैं नमस्कार करनेवाला और मेरा स्वरूप नमस्कार करने योग्य - ऐसा दो पनाका भाव इसमें नहीं है। यानी अपने स्वरूपमें जो पर्याय लीन हो जाती है, ढल जाती है; वही अभेद नमस्कार है।

प्रश्न :- अभेद भक्ति को और समझाईए।

पू. भाईश्री :- सत्स्वरूप माने त्रिकाल अस्तित्व जिसका है, अविनाशी अस्तित्त्व है - ऐसा जो अपना सत्स्वरूप, उसको अभेदरूपसे नमस्कार, माने नमस्कार करनेवाला और नमस्कार करने योग्य - ऐसा विकल्पात्मक भेद जिसमें नहीं रहा। लेकिन अपने स्वरूपकी

महानता, अपने स्वरूपकी पवित्रता, अपने स्वरूपके ऐसे दिव्य गुणोंको देखकरके, देखनेवाली अवस्था अपनत्व करके लीन हो गई, उसीको अभेद भक्तिसे नमस्कार कहा जाता है। अभेद, अनन्य भक्ति, अनन्य माने ऐसी कोई भक्ति होती नहीं; वह पराभक्ति है - पराभक्ति माने आखरी, चरमसीमाकी भक्ति। दो पना नहीं रहे वह पराभक्ति है, ऐक्यता हो जाना। द्रव्य-पर्यायका ऐक्य हो जाना - ऐसी निर्विकल्प अवस्थाको अनन्य भक्तिरूप नमस्कार बोला जाता है। ऐसी अपनी भक्तिका स्मरण करके पत्रका प्रारंभ करते हैं।

``**जिसे मार्गकी इच्छा उत्पन्न हुई है..**'' मार्ग माने उपाय, संसारका नाश करनेका उपाय, और सिद्धपद-मोक्षपद-निर्वाणपद प्राप्त करनेका उपाय- उसको कहते है मार्ग। यानी कि रत्नत्रयरूप मार्ग। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र वही इसका उपाय है। संसारके नाशका भी वही उपाय है और मोक्षपदका भी वही उपाय है। ऐसे मार्गकी इच्छा-मार्गकी इच्छा माने मार्ग प्राप्त करनेकी इच्छा, जिसको उत्पन्न हुई है ``**उसे सब विकल्पोंको छोड़कर इस एक विकल्पको वारंवार स्मरण करना आवश्यक है।**''

प्रश्न :- सभी विकल्पोंको छोड़कर उसमें परलक्ष लेना क्या ?

पू. भाईश्री :- परलक्ष छोड़ना और (आगे) जो विकल्प दिया है उसको छोड़कर दूसरा (विकल्प) नहीं होना। मार्ग प्राप्तिके लिये अन्य प्रकारके उपायमें नहीं जाना, यही विकल्पमें आना, ऐसा कहना चाहते हैं। परलक्षकी बात तो बहुत दूर रही लेकिन उपायांतर की बात भी नहीं करना, क्या? दूसरे उपायकी बात भी नहीं करना, ऐसी बात करते हैं।

प्रश्न :- भाईश्री, आप बोले कि उस बातका वारंवार स्मरण करना चाहिए....वह कैसे ?

पू. भाईश्री :- स्मरण करना माने याद करना। जैसे अब यह पहला वचन हमने पढ़ा, कि मार्गकी इच्छा जिसको उत्पन्न हुई है तो इस वचनका स्वाध्याय करते हुए, स्वलक्षसे स्वाध्याय करते हुए, हमें अपनेमें तलाश कर लेनी चाहिए - checking कर लेना चाहिए कि क्या (वास्तवमें) हमको मार्गकी इच्छा उत्पन्न हुई है ? तभी हम, यहाँ जो ज्ञानीपुरुष बात कहते हैं उसको स्वीकार कर सकेंगे। अगर इमानदारीसे हमको वह इच्छा नहीं है यानी संसारकी भी इच्छा है, संसारके कुछ प्रसंगकी, कुछ पदार्थकी (भी इच्छा है), तो यह बात स्मरणमें रहनेवाली नहीं है; बल्कि स्मरण छूट जायेगा। जो बात वे कहना चाहते हैं कि बारंबार इसका स्मरण करना, लेकिन वह स्मरण रहनेवाला नहीं है। इसलिये पहले हमको हमारेमें वह देख लेना है कि खरेखर-वास्तवमें हमको मोक्ष मार्गकी इच्छा है ? या नहीं है ? यानी वास्तवमें ही हमको संसार छोड़ना है कि नहीं छोड़ना है, या भोगना है ? - क्या बात है? वह पहले हमको देख लेना चाहिए, तब तो आगेका काम होगा, वरना होनेवाला नहीं है। स्वाध्याय हो गया तो बात खत्म ! यह (बात) सिर्फ स्वाध्यायके लिये नहीं है, ये जो कह रहे हैं यह बात अमलीकरणकी है। क्या ? सिर्फ स्वाध्यायकी नहीं है, अमलीकरणकी है। इसलिये यह बात पहले check कर लेनी चाहिए कि हमें बराबर मार्गकी इच्छा उत्पन्न हुई है ?

कोई भी आदमी परस्पर विरुद्ध ऐसे दो मार्ग पर एकसाथ नहीं चल सकता। एक मार्ग पूर्वमें जाता है, (और दूसरा) एक पश्चिममें-चलनेवाला या तो पूर्वमें जायेगा या तो पश्चिममें। एक साथ दो दिशामें जा सकेगा? नहीं। ऐसा ही संसार-मोक्षका है, दोनों प्रतिपक्षमें हैं। तो तुम देखो अपने आपमें कि तुमको किस मार्गमें

जाना है ? दो घोड़ोंकी सवारी तो होनेवाली है ही नहीं। अत: अंतरसे जिसको संसारमार्गमें नहीं जाना है यानी अंतरसे जिसको थकान आई है - कि हमको नहीं जाना है, उसके लिये यह पत्र है। बाकी तो स्वाध्याय अनेक बार करेंगे, हमारी परिस्थिति वहीं की वहीं रह जायेगी। कौनसा विकल्प बार-बार स्मरण करनेका है ? - कि ``**अनंतकालसे जीवका परिभ्रमण हो रहा है, फिर भी उसकी निवृत्ति, क्यों नहीं होती ?**'' अनंतकालसे जीवका माने मेरा, जीव कौन है ? मैं हूँ, जीव माने मैं, कोई परका, दूसरेका विकल्प हमें नहीं करना है। अनंतकालसे मेरा परिभ्रमण होने पर भी उसका नाश क्यों नहीं हो रहा है ? परिभ्रमण क्यों चालू रहा है ? और ऐसा मैं क्या करूँ ? ऐसी कौनसी करनी करूँ कि जिससे (इस) परिभ्रमणका नाश हो जाय, यह मेरा संशोधनका विषय है। अनंतकालसे मेरा परिभ्रमण चालू रहा है और इसका नाश नहीं हो रहा है - यह मेरी चिंताका विषय है। और कैसे नाश होवे यह मेरे संशोधनका विषय है, मेरी जिज्ञासाका विषय है, मेरी भावनाका विषय है। ये दो प्रकारके परिणाम बार बार होने चाहिये, यानी विस्मरण नहीं होना -चाहिये। कब तक ? कि जब तक पूर्ण शुद्धिका, पूर्णताका लक्ष्य नहीं होवे तब तक। क्योंकि यह चिंतना और यह (मार्ग) प्राप्तिकी भावनाकी वेदना (मार्गकी) अप्राप्ति होनेसे, पूर्णताके लक्ष्यमें परिणमन करेगी। कारण-कार्यका दोनोंमें सम्बन्ध है। और ऐसा पूर्णताका लक्ष्य होवे तभी यथार्थ चिंतना और वेदना हुई है - ऐसा गिनना वरना कुछ होकरके, कुछ खेद होकरके, चला जायेगा। जिसका कोई महत्व नहीं है, क्योंकि वह खेद कार्यसाधक नहीं हुआ। कार्यसाधक कब हुआ कहा जाये ? - कि (जब) पूर्ण शुद्धिका लक्ष, पूर्ण शुद्धिका ध्येय निश्चित हो तब। इसलिये जब तक ऐसे

लक्ष्यका - पूर्ण शुद्धिके लक्ष्यका Result नही आये तब तक उसका विस्मरण नहीं होना चाहिए। अगर वह विस्मरण हो गया, या होता रहेगा तो समझना कि हमको परिभ्रमणका भय, भवभ्रमणका भय नहीं है, उसकी कोई चिंता नहीं है - यह मानके चलना चाहिए; साबित करनेकी जरूरत नहीं है।

अब कहते हैं कि ``**इस वाक्यमें अनंत अर्थ समाया हुआ है;....**'' समाविष्ट है, वह कैसे ? कि तुम चिंतनामें आओ तो पता चलेगा, सुननेसे तो सुना अनसुना हो जायेगा; कहाँ तक वह स्मरणमें रहेगा ? सुनी हुई बात कहाँ तक स्मरणमें रहती है ? ज्यादा समय नहीं रहती है। जो परिभ्रमणकी चिंतनामें आता है उसको ज्ञानीके, इस वचनमें - यह जो वचन दिया है उसमें कितना अर्थ, कितना भाव समाया है उसका पता चलता है। कैसे ? कि जीवको परिभ्रमणके कारणरूप अनेक प्रकारके अनंत भाव जो हुए हैं, हो रहे हैं; उसका भावभासन होगा। (वह इस प्रकार कि) यह जो मेरे परिणाम चल रहे हैं ये सब (परिभ्रमण के कारणरूप हैं)- ऐसे-ऐसे ही मैंने परिभ्रमण किया है, ऐसे ही मैंने परिभ्रमण किया (है) अर्थात् चिंतना होते ही इसमें क्या अर्थ भरा है, कितना अर्थ भरा है (उसका) पता चल जायेगा। एक वाक्यमें अनंत अर्थ भरा है - देखो, ज्ञानीका ज्ञान !! एक वाक्य कहकरके, एक वचन क हकरके कहते हैं कि देखो, इसमें अनंत अर्थ भरा है ! कैसे कह पाते हैं ? - क्योंकि इस परिस्थितिमेंसे वे गुजरे हुए हैं इसलिये उनको मालूम है। यहाँ तो समस्या और समाधान दोनों साथमें देते हैं कि तुम्हारी यह समस्या है, और इस समस्याका समाधान निकालते वक्त तुमको ऐसा-ऐसा होगा। अगर ऐसा नहीं होता है तो मानना कि तुम अभी सहीरूपसे तुम्हारी समस्यामें आये ही नहीं। क्यों ? कि बहुभाग बहुत सी बातें

सुनकरके बौद्धिक स्तर पर उसका निर्णय लिया जाता है, और बौद्धिक स्तर पर आगे बढ़ना होता है - यहाँ इस प्रकारकी बात नहीं है। यहाँ तो इसका असर होते ही, परिभ्रमणका भावभासन हुआ कि कितना दु:ख (भरा है) !! कि जिसका कोई हिसाब नहीं इतना दु:ख है। ऐसा भाव भासित होते ही, उसकी चिंतना हुए बिना रहेगी नहीं। तब (चिंतना) करनी नहीं पड़ती, हो जाती है; और वैसे करने जाये तो कर नहीं सकते। कोई तो कृत्रिमतासे रो लिये - रोना-धोना हो गया तो उसका कोई मूल्य नहीं है। इसलिये कहते हैं कि ``**इस वाक्यमें अनंत अर्थ समाया हुआ है**''

``**और इस वाक्यमें कही हुई चिंतना किये बिना,**'' या चिंतना हुए बिना ....

प्रश्न :- अनंत अर्थका आपने जो समझाया, उसको छोड़कर, और कोई पहलू है ? दूसरा Side भी है क्या ?

पू.भाईश्री :- नहीं Side तो यह कही और दूसरी Side में इसका solution भासित होता है कि यदि इतने परिभ्रमणके भाव हैं तो उनके सामने उनको (मिटानेका) उपाय भी होना चाहिए। जिन दोषोंसे परिभ्रमण हो रहा है, जैसे-जैसे दोषसे परिभ्रमण हो रहा है, उन-उन दोषोंको मिटानेके लिये वैसे-वैसे उसके उपाय भी होने ही चाहिए, ऐसा गहराईसे विचार करने पर बिना रहेगा नहीं। इससे भावोंका जगत कितना विशाल है इसका ख्याल आयेगा। भावोंकी दुनिया है उसकी विशालता भी बहुत है, यह बात ख्यालमें आ जायेगी और इन भावोमें मैं भटक रहा हूँ, यह मेरी भाव परिभ्रमणकी परिस्थिति है और जिससे भिन्न-भिन्न क्षेत्रमें, भिन्न-भिन्न परिस्थितिमें, एकेन्द्रिय से लेकरके पंचेन्द्रिय तक-तिर्यंचमें, मनुष्यमें, देवमें, और नारकीमें जन्म-मरण हो रहा है, यह द्रव्यपरिभ्रमण है। जीव

द्रव्यपरिभ्रमण कर रहा है। इसका कारण भावपरिभ्रमण है। भावपरिभ्रमण कारण है, द्रव्यपरिभ्रमण उसका फल है। अनंतकालसे मेरा परिभ्रमण हो रहा है फिर भी इसका नाश क्यों नहीं हो रहा है ? इसको खोजने जायेगा तब मालूम पड़ेगा कि इसमें अनंत अर्थ कैसे समाया हुआ है।

हमको यह बात प्रवचनसे नहीं समझनी है, चिंतनामें आकर (के) यह बात समझनी है। क्यों ? कि (यह) Feeling-stage है; चिंतना है, यह Feeling stage है, वैचारिक stage नहीं है। Feeling stage जो होता है, feeling स्तर जो होता है, उसको यथार्थ समझनेके लिये वैसी Feeling में आना जरूरी है। जैसे एक आदमी हमको मिला (हमें कहा) कि (आप कहते हो) `हमको हमारे आत्मा पर प्रेम होना चाहिए, हमको गुणका प्रेम होना चाहिए;' लेकिन मेरे जीवनमें कभी किसीसे प्रेम हुआ ही नहीं, किसी पर मुझे प्रेम हुआ नहीं, मुझे किसीसे प्रेम हुआ ही नहीं और मैं यह भाषा समझता ही नहीं - तो मैं क्या करूं ? तो उसको तो ऐसा कहना पड़ेगा कि जब प्रेमका भाव आयेगा तभी पता चलेगा कि वह क्या चीज होती है ! कि जिस पर प्रेम होता है उसके बिना तड़पन कैसी होती है ? वह तभी पता चलता है ! यह सब Feeling की जो बात है वह Feeling से समझी जाती है, बिना Feeling वालोंको, इस प्रकारकी बिना Feeling वालोंको वह बात समझमें नहीं आती; समझना है तो Feelingमें आ जाओ। वरना वह बात यथार्थरूपसे समझमें नहीं आयेगी।

जैसे माँ को मातृत्वप्रेम होता है,वह मातृत्वप्रेमका पता, पिताको भी नहीं चलता है तो दूसरेको तो कहाँसे चलेगा ? जब कि संतान है वह तो दोनोंकी है, फिर भी माँ, माँ होती है; माँ है वह माँ

ही होती है। माँ को जो प्यार होता है, प्रेम होता है इसका ७/४ पिताको होता है, इससे ज्यादा नहीं होता, यह General (सामान्यरूपसे) बात है- व्यक्तिगत कोई बात नहीं है; Generally हमारे यहाँ यह बात बोली जाती है, माँ होती है वह माँ ही होती है। अब कोई समझना चाहे (कि) माँ का मातृत्व प्रेम कैसा होता है ? तो उसको कहना पड़े कि तुम माँ बनो तब ही पता चलेगा - कब पता चलेगा ? माँ बनोगे तब, इसके पहले पता नहीं चल सकता।

ऐसे ही स्वानुभवका सुख है, उसे कोई ज्ञानी-अनुभवी कितना भी अनुभव करके बतावें, फिर भी समझमें नहीं आयेगा। आनंदकी महिमा करे, (फिर भी) समझमें नहीं आयेगा। क्योंकि उसकी बराबरी करनेके लिये कोई चीज है ही नहीं, फिर भी बता देते हैं कि इन्द्रका इन्द्रासन इसके आगे कुछ नहीं है। जब कि इस प्रकारकी Comparision (तुलना करनेकी) वह चीज ही नहीं है। क्योंकि किसीके साथ उसकी बराबरी हो ही नहीं सकती। वह अनुपम चीज है- किसकी उपमा दें ?

प्रश्न :- जगतवालेको जिसकी महिमा है वह Item से (बराबरी करे तो) ?

पू.भाईश्री :- तो भी समझमें नहीं आयेगा। उसके लिये स्वानुभव होना ही जरूरी है।

प्रश्न :- यह जो कहा कि संशोधनमें जाना चाहिये कि मेरा परिभ्रमण क्यों हो रहा है (इसका मतलब क्या है) ?

पू.भाईश्री :- संशोधन (माने) जिज्ञासा, भावना। मेरा परिभ्रमण क्यों हो रहा है ? मेरा परिभ्रमण क्यों हो रहा है और क्या करनेसे मिटे ? इसका उपाय क्या ? उपायके लिये दृढ़ होकर तरसे बिना - "**इस वाक्यमें कही हुई चिंतना किये बिना...**" माने परिभ्रमणकी चिंतना

किये बिना, और ``**उसके लिये दृढ़ होकर तरसे बिना...**'' - तड़पन जो होती है, उसको मार्ग-प्रेम कहते हैं, मार्ग-भक्ति कहते हैं। वह मार्ग-भक्ति कब आती है ? कि जब उसके लिये तड़पन आती है। जब बहुत तृषा लगती है तो तड़पन होती है न ? - तरसे बिना; (अर्थात्) अप्राप्तिका दु:ख। उपायकी प्राप्ति नहीं है इसका दु:ख हुए बिना-अरे ! मेरे पास मेरे परिभ्रमणसे छूटनेके लिये कोई उपायकी प्राप्ति नहीं है। मुझे चाहिए (वह) मिल नहीं रहा है।

``**उसके लिये दृढ़ होकर तरसे बिना मार्गकी दिशाका भी अल्प भान नहीं होता;**'' वर्तमानमें किसीको भी मार्गकी सूझ होती नहीं है-इस स्थितिमें आये बिना; इस Feeling Stage में आये बिना किसीको भी मार्ग कैसा होता है इसका भान तो नहीं होता लेकिन मार्ग किस दिशामें है इसका भी अल्प भान नहीं होता; धारणावाला बोल देगा कि अंतर्मुखदिशामें मार्ग है; और वह सम्यक्दर्शन, ज्ञान चारित्ररूप है लेकिन यहाँ उसके भानकी बात चली है, सिर्फ उसकी जानकारी की बात नहीं चली है। तुम्हारी जानकारी है वह भान तो नहीं है। शब्दका प्रयोग क्या है? `भान' ऐसा है, `जानकारी' नहीं है। भान होना कि मैं परिभ्रमण कर रहा हूँ। तभी उसकी चिंता होगी और उसकी तरस आयेगी (और) तब मार्गकी दिशाका भान आयेगा; वरना जो जानकारी होगी वह बेकार जायेगी; जानकारी बेकार ही है; इससे कुछ होनेवाला नहीं है। मोक्षमार्गकी प्राप्तिके लिये मुमुक्षुकी भूमिका चाहिए और मुमुक्षुकी भूमिका का यह प्रथम चरण है। बिना मुमुक्षु हुए, बिना आत्मार्थी हुए कोई मोक्षमार्ग नहीं पाता। और जो मुमुक्षु मोक्षमार्ग प्राप्त करनेके लिये मुमुक्षुतामें आता है उसका पहला stage, प्रथम चरण यही आता है।

(इस तरह) लिखते हैं कि ``**मार्गकी दिशाका भी अल्प भान**

नहीं होता; पूर्वमें हुआ नहीं, और भविष्यकालमें भी नहीं होगा। हमने तो ऐसा जाना है।" हमारे अनुभवसे हमने तो ऐसा जाना है। "**इसलिये आप सबको यही खोजना है**"। किसीको बाकी नहीं रखा कि तुम विद्वान हो तो तुमको वेदना नहीं आए तो चलेगा, तुम अगर सिर्फ शास्त्र पढ़े हो....(तो चलेगा)। "**उसके बाद दूसरा क्या जानना ? वह मालूम होता है**।" क्या जानना चाहिए, क्या करना चाहिए, वह समझमें आता है, इसके पहले (जो) कुछ जाननेमें आया होगा वह बेकार ही जायेगा, ऐसा कहनेका (अभिप्राय) है। (समय समाप्त होता है।)

कुटुम्ब प्रतिबंध मिथ्यात्वको गाढ़ करता है। जिससे प्राप्त परम सत्संग निष्फल जाता है। सत्संगके चाहक जीवको कुटुम्बकी चाहना छोड़नी जरूरी है। प्राय: तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेवाले जीवका परिभ्रमण-दुर्गतिके कारणरूप इस महादोषके प्रति ध्यान नहीं जाता है।इसलिये, (उसका) वह अभ्यास निष्फल जाता है। बाह्यमें व्यवसायादिसे निवृत्ति लेकर मोक्षमार्गकी प्राप्तिके लिये जब कोई जीव धर्मप्रवृत्ति करता है, तब एक पहलू इतना सुंदर होने पर भी, दूसरे पहलूमें कुटुम्बप्रतिबंधक परिणामोंका पाड़ा, धर्मप्रवृत्तिके घासके पूलोंको चबा जाता है; और अंधजनके माफिक जीवको इसकी खबर भी नहीं रहती है। कुटुम्बके सभ्योंके प्रति अपनत्वका स्नेह रहता है वह कुटुम्ब प्रतिबंध है। संसारमें वह एकदम सामान्य (नोर्मल) हो चुका है। इसलिये उसकी भयंकरताका बिलकुल भी खयाल, तत्त्वके अभ्यासी जीवोंको भी नहीं आता है। स्वलक्ष्यके अभावमें उक्त प्रकार से वंचनाबुद्धि से दुर्लभ ऐसे मनुष्यभवको मिथ्यात्वका नाश किये बगैर ही गँवा देते हैं !!! जो कि बड़ा अनिष्ट है। - पू. भाईश्री

श्रीमद् राजचंद्र
पत्रांक-१२८

ववाणिया, प्रथम भादों सुदी ६, १९४६

धर्मेच्छुक भाइयो,

प्रथम संवत्सरीसे लेकर आजके दिन तक किसी भी प्रकारसे आपकी अविनय, आशातना, असमाधि मेरे मन, वचन, कायाके किसी भी योगाध्यवसायसे हुई हों उनके लिये पुन: पुन: क्षमा चाहता हूँ।

अंतर्ज्ञानसे स्मरण करते हुए ऐसा कोई काल ज्ञात नहीं होता अथवा याद नहीं आता कि जिस कालमें, जिस समयमें इस जीवने परिभ्रमण न किया हो, संकल्प-विकल्पकी रटन न की हो, और इससे `समाधि' को न भूला हो। निरंतर यह स्मरण रहा करता है, और यह महावैराग्यको देता है।

और स्मरण होता है कि यह परिभ्रमण केवल स्वच्छंदसे करते हुए जीवको उदासीनता क्यों न आई ? दूसरे जीवोंके प्रति क्रोध करते हुए, मान करते हुए, माया करते हुए, लोभ करते हुए या अन्यथा करते हुए, यह बुरा है, ऐसा यथायोग्य क्यों न जाना ? अर्थात् ऐसा जानना चाहिये था, फिर भी न जाना, यह भी पुन: परिभ्रमण करनेसे विरक्त बनाता है।

और स्मरण होता है कि जिनके बिना एक पल भी मैं न जी सकूँ, ऐसे कितने ही पदार्थ (स्त्री आदि), उनको

अनंत बार छोड़ते, उनका वियोग हुए अनंत काल भी हो गया; तथापि उनके बिना जीवित रहा गया, यह कुछ कम आश्चर्यकारक नहीं है। अर्थात् जिस जिस समय वैसा प्रीतिभाव किया था उस उस समय वह कल्पित था। ऐसा प्रीतिभाव क्यों हुआ ? यह पुन: पुन: वैराग्य देता है।

और जिसका मुख किसी कालमें भी न देखूँ, जेसे किसी कालमें मैं ग्रहण ही न करूँ; उसके घर पुत्रके रूपमें, स्त्रीके रूपमें, दासके रूपमे, दासीके रूपमें, नाना जंतुके रूपमें क्यों जन्मा ? अर्थात् ऐसे द्वेषसे ऐसे रूपमें जन्म लेना पड़ा ! और वैसा करनेकी तो इच्छा न थी ! कहिये, यह स्मरण होने पर इस क्लेशित आत्माके प्रति जुगुप्सा नहीं आती होगी ? अर्थात् आती है।

अधिक क्या कहना ? जो जो पूर्वके भवांतरमें भ्रांतिरूपसे भ्रमण किया; उसका स्मरण होने पर अब कैसे जीना यह चिंतना हो पड़ी है। फिर जन्म लेना ही नहीं और फिर ऐसा करना ही नहीं ऐसा दृढ़त्व आत्मामें प्रकाशित होता है। परंतु कितनी ही निरुपायता है वहाँ क्या करना ? जो दृढ़ता है उसे पूर्ण करना, अवश्य पूर्ण करना यही रटन है; परन्तु जो कुछ आड़े आता है उसे एक ओर करना पड़ता है, अर्थात् खिसकाना पड़ता है; और उसमें काल व्यतीत होता है, जीवन चला जाता है, उसे न जाने देना, जब तक यथायोग्य जय न हो तब तक, ऐसी दृढ़ता है, उसका क्या करना ? कदापि किसी तरह उसमेंसे कुछ

करें तो वैसा स्थान कहाँ है कि जहाँ जाकर रहें ? अर्थात् वैसे संत कहाँ हैं कि जहाँ जाकर इस दशामें बैठकर उसका पोषण प्राप्त करें ? तो फिर अब क्या करना ?

``चाहे जो हो, चाहे जितने दु:ख सहो, चाहे जितने परिषह सहन करो, चाहे जितने उपसर्ग सहन करो, चाहे जितनी व्याधियाँ सहन करो, चाहे जितनी उपाधियाँ आ पड़ो, चाहे जितनी आधियाँ आ पड़ो, चाहे तो जीवनकाल एक समय मात्र हो, और दुर्निमित्त हो, परंतु ऐसा करना ही।

तब तक हे जीव ! छुटकारा नहीं है।''

इस प्रकार नेपथ्यमेंसे उत्तर मिलता है और वह यथायोग्य लगता है।

क्षण-क्षणमें पलटनेवाली स्वभाववृत्ति नहीं चाहिये। अमुक काल तक शून्यके सिवाय कुछ नहीं चाहिये; वह न हो तो अमुक काल तक संतके सिवाय कुछ नहीं चाहिये; वह न हो तो अमुक काल तक सत्संगके सिवाय कुछ नहीं चाहिये; वह न हो तो आर्याचरण (आर्यपुरुषों द्वारा किये गये आचरण) के सिवाय कुछ नहीं चाहिये; वह न हो तो जिनभक्तिमें अति शुद्ध भावसे लीनताके सिवाय कुछ नहीं चाहिये; वह न हो तो फिर माँगनेकी इच्छा भी नहीं है।

समझमें आये बिना आगम अनर्थकारक हो जाते हैं। सत्संगके बिना ध्यान तरंगरूप हो जाता है। संतके बिना अंतकी बातका अंत नहीं पाया जाता। लोकसंज्ञासे लोकाग्रमें नहीं पहुँचा जाता। लोकत्यागके बिना वैराग्य यथायोग्य पाना दुर्लभ

है।

``यह कुछ झूठा है ?'' क्या ?

परिभ्रमण किया सो किया; अब उसका प्रत्याख्यान लें तो ?

लिया जा सकता है।

यह भी आश्चर्यकारक है।

अभी इतना ही, फिर सुयोगसे मिलेंगे।

यही विज्ञापन।

वि. रायचन्दके यथायोग्य।

ॐ

श्रीमद् राजचंद्र
पत्रांक-१२८

प्रवचन-२
दि-२५-१२-९७
(सुबह)

अंतरात्मामें से परिभ्रमण सम्बन्धित निषेध आना - वह इस पत्रका विषय है। अंतरात्मामेंसे अर्थात् ऊपर-ऊपरसे नहीं। परिभ्रमण का निषेध आना वह नास्ति है, अस्तिमें (परिभ्रमणका नाश हो, तब) मोक्षकी प्राप्ति होती है। ऐसा नहीं होता कि परिभ्रमणका निषेध आते ही मोक्ष हो जाय, लेकिन तब मोक्ष सम्बन्धित निर्धार अवश्य होता है। ये दोनों आत्माके मोक्षप्राप्ति के लिये नींवके पत्थर (Foundation Stone) हैं। कोई भी आत्मा संसारसे मुक्त हुआ है, मोक्षको प्राप्त हुआ है, या (वर्तमानमें) हो रहा है या (भविष्यमें) होगा, इन सभी जीवों के परिणमनमें मूलमें ये दो प्रकारके परिणाम अवश्य-अवश्य होते हैं। एक तो परिभ्रमणका अंतरात्मामेंसे वेदनापूर्वक निषेध और (दूसरा) संपूर्ण शुद्धि-मोक्षको प्राप्त करनेका निर्धार।

अभी भले ही मोक्षके विषयमें अनजान हैं परन्तु जन्म-मरणके नाश होनेका निर्धार, जन्म-मरणकी तो खबर है न ! कि ऐसा जन्म-मरण नहीं चाहिए; (और) मुक्त आत्माओंको जन्म-मरण नहीं होते - ऐसा मोक्षका निर्धार-निश्चय - ये दो प्रकारके परिणाम कैसे होते हैं ? उसका (हूबहू) चितार- (वह) इस पत्रका विषय है (कि) ये दो प्रकारके परिणाम कैसे होते हैं ? और तब ही वह आत्मा मुक्तिके मार्गके समीप जानेकी तैयारीमें आता है, फिर उसको मुक्तिका मार्ग प्राप्त होता है और अंतत: इसके फलमें उसकी मुक्ति होती है।

पहली भूमिका मुमुक्षुकी है; जो कि मुक्तिके मार्गके समीप जानेकी है फिर मोक्षमार्गमें जो प्रवेश होता है वह साधक की भूमिका है, धर्मात्माकी भूमिका है। जिसके मुख्य दो विभाग हैं एक गृहस्थ और दूसरा त्यागी- मुनि। इसके बाद जो फल आता है वह मुक्तदशा है जो कि अरिहंत दशा व सिद्धदशा है। हमारे लिये (अभी) यह विषय प्रयोजनभूत है । अभी अगर हमारेमें इस प्रकारके परिणाम अंतरात्मामेंसे उत्पन्न होते हैं तो हम मोक्षमार्ग के समीप जानेकी तैयारीमें आते हैं। और इस तैयारी के जितने भी प्रकारके परिणाम हैं वे मुमुक्षुकी भूमिकामें जघन्य भूमिका, मध्यम भूमिका, और उत्कृष्ट भूमिकाको प्राप्त होते हैं और इसके बाद मोक्षमार्ग के प्रारम्भका चतुर्थ गुणस्थान आता है जहाँसे मोक्षमार्गकी शुरूआत होती है। फिर ऊपर-ऊपरके गुणस्थान हमारे आगमोंमें प्रसिद्ध हैं - चौथा, पाँचवा, छट्ठा, सातवाँ ... बारह गुणस्थान तक साधकदशा है, तेरहवें गुणस्थानमें अरिहंत दशा है, चौदहवाँ गुणस्थान भी अयोगी केवलीका है, अर्थात् मोक्षदशा, देह रहित दशा है। अरिहंत दशा देह सहित, सयोगी केवली की है; योगी - योग अर्थात् मन, वचन, कायाका योग जबकि सिद्धदशा जो है वह सिद्धालयमें अशरीरीदशा है, देह रहित ऐसी

मुक्तदशा है। उस दशाकी प्राप्ति होने पर संसारके सर्व क्लेश व सर्व दु:खका नाश होता है और अनंतकाल पर्यंत अनंतसुखकी प्राप्ति होती है। परमानंदमें वह आत्मा बिराजमान हो जाता है। जगतपूज्यपद होने पर भी और सारा जगत सचराचर, उनके ज्ञानमें प्रतिबिंबित होने पर भी वे वीतरागभावसे अपने परमानंदमें बिराजमान रहते हैं।

पत्रका यह मुख्य विषय है, इसके बाद उन्होंने कुछ एक सिद्धांतसूत्र लिखे हैं, वे भी बहुत मूल्यवान सूत्र लिखे हैं। और इस प्रकार पत्र समाप्त किया है।

जिनको पत्र लिखा गया है वे खंभातके धर्मेच्छक-धर्मकी इच्छा जिनको थी - वैसे धर्मेच्छक भाई हैं। धर्मकी इच्छा करनेवाले = धर्मेच्छक। ***क***-माने करनेवाले। कुछ एक भाई खंभातमें सामूहिकरूपसे कृपालुदेवके परिचयमें आये थे। खुद भी कभी-कभी सत्संगके हेतुसे खंभात पधारते थे। आखिरमें खंभातमें उन्होंने एक पाठशाला शुरू की थी, और वहाँ आज भी वह पाठशाला चालू है और अनेक ग्रंथ वहाँ विद्यमान हैं। उसकी स्थापना कृपालुदेवके वरद हस्तसे हुई है। जो धर्मकी इच्छावाले मुमुक्षु परिचयमें आये थे, वे भी हमारे जैसे गृहस्थ ही थे, करीब हमारे जैसी योग्यतावाले ही थे, भावनावाले थे। कोई हमारेसे विशेष योग्यतावाले भी हो सकते हैं, श्री अंबालालभाई जैसे। श्री अंबालालभाई और श्री त्रिभुवनभाई नामके दो मुमुक्षुओंकी दशा, मुमुक्षुतामें भी कुछ विशिष्ट प्रकार की, अच्छी दशा थी, ऐसा पत्रों परसे अनुमान किया जा सकता है। हमारी भूमिकावाले मुमुक्षुओंको संबोधन करके लिखा हुआ पत्र होनेसे, हमें सीधा लागु पड़े ऐसा विषय है, यानी कि एकदम प्रयोजनभूत, सीधा प्रयोजनभूत विषय है। इतना इस पत्रका स्वाध्याय करते वक्त हमारे लक्ष्यमें होना चाहिए कि यह मेरे कामकी चीज है।

यह स्पष्टता इसलिये जरूरी है, क्योंकि स्वाध्यायमें तो अनेक बातें आती है, मुमुक्षुकी भूमिकाकी आती है, ज्ञानियोंकी भूमिकाकी आती है, मुनियोंकी, मुनिदशाकी बात आती है, केवलज्ञानियोंकी, तीर्थंकरोंकी बात भी आती है, लेकिन ऊपर-ऊपरकी दशाकी बातें हमारी भावनाका विषय होनी चाहिए। ऊपर-ऊपरकी दशाका विषय जब चले तब वह हमारी भावनाका विषय बनना चाहिए कि हमें भी ऐसी दशा प्रगट हो तो कितना अच्छा! और जो विषय हमें लागू पड़ता हो, उसके पर तो हमारा लक्ष्य एकदम केन्द्रित हो जाना चाहिए; सिर्फ केन्द्रित हो जाना चाहिए इतना ही नहीं, इसके उपरांत उस भूमिकामें हमारा प्रवेश हो जाए ऐसे परिणाम शुरू हो जाने चाहिए। तब स्वाध्याय यथार्थारूपसे किया, ऐसा मान सकते हैं।

अभी आगरामें थोड़ा विषय चला था। दो दिन आगरा जाना हुआ था तब विषय इस प्रकार चला था कि हमलोग सिर्फ स्वाध्याय करके जो भी वचन हो उसका अर्थ समझ लें, फिर उसका रटन करें, बारबार उसीको पढ़ते रहें, सुनते रहें तो वह एक routine (रूढ़ि) हो जायेगा। और हमें इस विषयको routine (रूढ़ि) नहीं बना लेना चाहिए। हम पर लागू होता हो उस भूमिकाके विषयको जब हम स्वाध्यायमें लें तब उसरूप परिणमन हमारा शुरू हो जाय ऐसा हमारा प्रकार स्वाध्यायके दौरान अथवा स्वाध्यायके बाद तुरंतके समयमें ही होना चाहिए, तो ही उस स्वाध्यायको वास्तवमें स्वाध्याय किया मान सकते हैं वरना वह Routine (रूढ़ि) हो जायेगा।

पर्यूषण पर्व पूरे हुए हैं इसलिये शुरूआतकी दो पंक्तिमें उन्होंने खंभातके भाईयोंको क्षमापना लिखी है कि, ``**प्रथम संवत्सरीसे लेकर आजके दिन तक किसी भी प्रकारसे आपकी अविनय, आशातना**

असमाधि मेरे मन, वचन, कायाके किसी भी योगाध्यवसायसे हुई हो उसके लिये पुन: पुन: क्षमा चाहता हूँ।" स्वयं ज्ञानीपुरुष हैं। जिन्हें पत्र लिखा है वे मुमुक्षु हैं फिर भी उन्होंने क्षमायाचना लिखी है। यद्यपि जैनदर्शनमें यह क्षमापनाके व्यवहारकी पद्धति शुरूसे ही है, जबसे संप्रदाय है तबसे है और वह अनादिसे है।

सभी संप्रदाय अनादिसे हैं। कोई संप्रदाय नया नहीं है या पुराना नहीं है; क्योंकि जगतमें अज्ञानी जीव भी अनादिसे हैं और ज्ञानी जीव भी अनादिसे हैं, और दोनोंके संप्रदाय चलते हैं। इसलिये पौराणिकताके आधारसे कौनसा संप्रदाय सच्चा है इसका निर्णय करनेकी जरूरत नहीं है, वरना लौकिक में अभी (लोग) ऐसा मानते हैं कि श्री महावीरस्वामीको हुए २५०० साल हुए इसलिये जैन संप्रदाय तो २५०० साल ही पुराना है । बाकी अन्य कई संप्रदाय इनसे पुराने हैं ! वे सब सच्चे होने चाहिए, इससे पुराने है इसलिये, परन्तु ऐसा नहीं है। चौबीसमें अंतिम तीर्थंकर तो २५०० साल पहले हुए इसके पहले एक करोड़ सागर गुणा एक करोड़ सागर वर्ष पहले सर्वप्रथम आदिनाथ भगवान हुए। यह बात तो इस वर्तमान चौबीसी की है, ऐसी तो अनंत चौबीसी हो चुकी। इस भरतक्षेत्रमें ऐसी तो अनंत चौबीसी हो चुकी। विश्वमें अनंतकालसे जैनधर्म चला आ रहा है और जैनधर्मके अलावा दूसरे धर्म भी अनंतकालसे चल रहे हैं, यह विश्वकी कुदरती व्यवस्था है।

यहाँ तो हमें ऐसा लेना है कि ज्ञानी हो या मुमुक्षु हो जगतके सभी जीवोंके प्रति क्षमापना चाहता है। 'खामेमि सव्व जीवानां' अत: इसमें मुमुक्षु भी आ जाते हैं और ज्ञानी भी आ जाते हैं और जगतमें परिभ्रमण करते हुए निगोदके एकेन्द्रियसे लेकर सभी पंचेन्द्रिय पर्यंतके जीव आ जाते हैं। ऐसा क्यों ? यह एक बहुत स्वाभाविकरूपसे

उत्पन्न होता हुआ भाव है। जिस आत्माको संपूर्ण निर्दोष होना हो, वह किसीके भी प्रति कोई भी अनुचित/ दूषित व्यवहार करना नहीं चाहता है क्योंकि स्वयं को संपूर्ण निर्दोष होना है न!

जैनदर्शन है वह संपूर्ण निर्दोष होनेकी कार्यपद्धति है। क्या ? जैनदर्शन क्या है ? संपूर्ण निर्दोष होनेकी कार्यपद्धति है। हमारे ज्ञानियोंने इन दोषोंको कैसे व्यवस्थितरूपसे हटाना, मिटाना और कैसे निर्दोष हुआ जाय? उसकी व्यवस्थित योजना, मुमुक्षुकी भूमिकाकी और साधककी भूमिकाकी प्रसिद्धि की है। कृपालुदेवने तो मुमुक्षुकी भूमिका पर बहुत प्रकाश ड़ाला (है)। जब कि जो पुराण व आगम हैं उन्होंने मोक्षमार्ग पर प्रकाश डला है। मुमुक्षुकी भूमिका पर जितना प्रकाश कृपालुदेवने किया है उतना अन्यत्र कहीं भी देखनेमें नहीं आता।

अत: यहाँ पर ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता है कि मेरे आत्माके परिणामके निमित्तसे यानी कि योगाध्यवसायसे-उसको योगाध्यवसाय कहते हैं, मन, वचन, कायाका योग होता है और जीवके परिणाम जो हैं वे अध्यवसाय है। दोनोंकी निमित्त - नैमित्तिक सम्बन्धसे प्रवृत्ति होती है और इस प्रवृत्ति के निमित्तसे दूसरे जीवोंको दु:ख होनेका कारण उत्पन्न होता है। कोई-कोई जीवोंकी हिंसा होती है, कोई जीवोंको पीड़ा होती है, कोई जीवोंको टेन्शन होता है, कई जीवोंको किसी न किसी प्रकारसे दु:ख होता है। नहीं चाहते हुए भी होता है और कभी कभी इच्छापूर्वक भी होता है। दोनों प्रकारके भाव व परिस्थिति उत्पन्न होती है। क्षमापना माँगनेवाला अंत:करणसे-शुद्ध अंत:करणसे ऐसी परिस्थिति को अंतरसे नहीं चाहता है, उसको इस प्रकारकी भावना अंदरसे रहती है, जिसमें से इस व्यवहारका जन्म हुआ होगा ऐसा हम मान सकते हैं, वरना एकबार

तो ऐसी भावना हुए बिना नहीं रहती, इसके बाद ही मुमुक्षुकी गाड़ी आगे चलती है कि मेरे मन, वचन, कायाके योगके निमित्तसे, और मेरे किसी भी परिणामके निमित्तसे कुछ करना, करवाना, या अनुमोदन करना, नौ-कोटिसे, कृत, कारित, अनुमोदना और मन, वचन और काया तीनोंका (एक-दूसरेके साथ) गुणा किया जाय तो नौ- उसमेंसे किसी भी प्रकारसे कोई भी जीवको मेरे कारण दुःख नहीं होना चाहिए - ऐसा मैं चाहता हूँ, इच्छा रखता हूँ, और शायद जाने - अनजाने में हो भी गया हो तो उसके लिये क्षमा माँगता हूँ। क्षमा माँगनेसे जीव हलका हो जाता है। कैसा हो जाता है ? एकदम हलका हो जाता है।

इसको थोड़ा और स्पष्ट करें तो बुद्धिपूर्वक, समझपूर्वक उदयमें राग, द्वेष, मोहके परिणाम सभी संसारी जीवों को होते ही हैं, और जब ऐसा होता है तब किसी न किसी को दुःख होता है। One cannot please all. कोई एक सभीको खुश रख सके ऐसी परिस्थिति है ही नहीं। जब ऐसा है तब कोई जीव दुःखी होता है, तब उसमें खुदकी भूल ऐसी होती है कि मैं सही था, उसको दुःख हुआ उसमें मैं क्या कर सकता हूँ? मैं तो अपनी जगह ठीक था। उसको दुःख हुआ लेकिन भूल उसकी ही है, मेरी भूल नहीं है। जीवनमें ऐसे-ऐसे प्रकार बनते हैं, अनेक प्रकार बनते हैं जिसके कारण जीवमें अमुक प्रकारकी ग्रंथि बँध जाती है, जिसे शास्त्रभाषामें शल्य कहा जाता है। शल्य रह जाता है। ऐसा शल्य नहीं रहे इसके लिये यह क्षमापनाका व्यवहार उत्तम कोटिका है। किसीके भी प्रति कोई शल्य रखना जरूरी नहीं है। जगतमें योग्यतावान जीव और अयोग्यतावान जीव, सभी कक्षाके जीव होते हैं, सभी प्रकारके परिणामवाले जीव होते हैं, हमें किसीसे कोई भी प्रकारकी ग्रंथि,

संबंध या शल्य रखनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें तो मुक्तिके मार्ग पर चलना है और उस रास्ते पर हमें आगे चलते रहना है। इसमें मनमें या अभिप्रायमें किसीके भी प्रति कुछ भी नहीं रखना है, कि ये तो ऐसा ही है, ये तो वैसा ही है, या ये तो वैसी ही है ऐसा कुछ भी नहीं रखना है, जो जैसे भी हो वैसे, हमें इससे कुछ लेनादेना नहीं है। जगतमें तो सभी प्रकारके जीव हो सकते हैं, हम अपनी तरफसे क्षमा माँग लेते हैं तो हमारी बात वहाँ पूरी हो जाती है।

अत: किसी भी प्रकारसे अविनय हुआ हो (तो क्षमापना माँग लेनी चाहिए) क्योंकि ये पत्र लिखते वक्त कृपालुदेवकी उम्र २३ सालकी थी, उनके परिचयमें बड़ी उम्रवाले मनुष्य भी आते थे। उनसे काफी बड़ी उम्रवाले लोग थे। श्री सौभाग्यभाई परिचयमें आये तब वे उनसे ४४ साल बड़े थे। बड़ोंसे या बुज़ुर्गसे एक प्रकारका व्यवहार होता है, जब उस व्यवहारका भंग होता है तब उनको ऐसा लगता है कि मेरा विनय भी नहीं रखते हैं। वे उम्रमें छोटे हैं और हम इतने बड़े हैं फिर भी-ऐसा लगता है। किसी भी प्रकारसे अविनय हुआ हो, आशातना हुई हो, किसी प्रकारसे आशातना-विरोध हुआ हो, किसी भी प्रकारसे असमाधि माने अशांतिका प्रसंग बना हो, दु:खका कारण, अशांतिका कारण बना हो, तो पुन: - पुन: इसके लिये क्षमा चाहता हूँ, ऐसा करके क्षमापनाकी दो पंक्तियाँ लिखी हैं।

अब पत्रका विषय शुरू होता है। ``**अंतर्ज्ञानसे स्मरण करते हुए ऐसा कोई काल ज्ञात नहीं होता अथवा याद नहीं आता कि जिस कालमें, जिस समयमें इस जीवने परिभ्रमण न किया हो, संकल्प-विकल्पकी रटन न की हो, और इससे `समाधि' को न भूला हो।**

अंतर्ज्ञानसे स्मरण करते हुए..." यानी कि अंतरात्मामेंसे स्मरण आया है। भूतकालका विषय है इसलिये `स्मरणमें' - ऐसा लिखा है। परिभ्रमणकी चिंतामें अपना जो भूतकाल है उसका स्मरण आता है। और वह अंदरसे आता है, ऊपर-ऊपरसे नहीं आता। सुनकरके, पढ़करके विचार करता है उस प्रकारसे नहीं बल्कि अंदर आत्मामेंसे स्फुरणा आती है। इस जीवने अर्थात् मेरे आत्माने; **`इस जीवने'** शब्द इस्तेमाल किया है न ! इस जीवने मतलब Third person/ Second person ऐसे नहीं लेना है, First person (स्वयंकी बात है।) मेरे आत्माने भूतकालमें जन्म-मरण नहीं किये हो और मुक्त हुआ हो ऐसा कोई काल (समय) नहीं गया। जन्म-मरण करता ही आया है, अभी तक जन्म-मरण करता ही आया है। परिभ्रमण किया है माने चौदह ब्रह्मांडमें सभी क्षेत्रमें जन्म लिया है और एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तककी सभी गतियोंमें भवको धारण किया है।

हमें भले ही दिखे या नहीं दिखता हो लेकिन यह एक Visualise करने जैसा विषय है - कि इस विश्वमें एक बहुत बड़ा Cyclone माने तूफ़ान जिसको कहते हैं, चल रहा है। हमारे यहाँ तूफ़ान शुरू होते ही सबसे पहले बिजली चली जाती है और अंधेरा हो जाता है। बारिश और हवा (तेजीसे चलने लगते है), पेड़ गिरने लगते हैं, मकान गिरने लगते हैं, और सब प्रकारका व्यवहार बंद हो जाता है। सभी जगह पानी भर जाता है। कहीं पर भी बिजली नहीं होनेके कारण अनेक प्रकारी मुश्किलें (Problems) आन पड़ती हैं। थोड़े घंटों तक भी (तूफ़ान) चले तो हम लोग थक जाते हैं, लेकिन अगर थोड़े दिन चल गया तब तो लोग त्राहि-त्राहि पुकारने लगते हैं।

हमारे यहाँ (भावनगरमें) दस साल पहले एक तूफ़ान सौराष्ट्रके

समुद्रकिनारे पर आया था। २४ घंटे तक भी तूफ़ान पूरा नहीं चला होगा। दोपहरके बाद तीन-चार बजे करीब शुरू हुआ था कि पूरी रात बारिश, तेज हवा और आकाश में बिजली हो रही थी। दूसरे दिन दोपहर तक शांत हुआ था लेकिन सब लोग त्राहि-त्राहि पुकारने लगे थे। सब अस्त- व्यस्त हो जाता है। दोपहर बाद जैसे शुरू हुआ कि लोग घरसे बाहर निकले नहीं, दुकानें सभी फटाफट बंद होने लगी। Announcement (सूचनाएँ) होने लगा कि यह तूफ़ान बहुत बड़ा है, सब लोग अपने-अपने घर सलामतीसे पहुँच जाएँ, और घरमें ही बंद रहें। घरमें घुस जानेके बाद कम्पाउन्डमें किस तरफसे कौनसा पेड़ गिरेगा और कब किसका मकान दब जायेगा इसके डरसे काँपना सबका चालू ही चालू रहता है।

ये तूफ़ान अनंतकालसे चल रहा है। देखिये ! एक सेकन्ड़में / क्षणमें असंख्य जीव, अनन्त जीव प्राणत्याग करके मरते हैं। उसी क्षण ही वे दूसरी जगह जन्म लेते हैं। यहाँ से वहाँ पटकते हैं। हमलोग तो फिर भी घरके खिड़की- दरवाजा बंद करके डरते-डरते भी थोड़ी बहुत सलामतीका अनुभव करते हैं कि चलो घरमें तो हैं, रास्ते पर तो नहीं हैं, ट्रेनमें तो नहीं हैं, हवाईजहाजमें तो नहीं हैं, क्या ? कि चलो भाई ! बाहर कोई वाहन में तो हम नहीं हैं। लेकिन यहाँ तो (परिभ्रमणके तूफ़ानमें) कोई संरक्षण मिल सके ऐसा है ही नहीं। जैसे ही यहाँसे प्राण छूटे कि कहाँ जाकर गिरेगा इसका कोई अतापता नहीं रहता। किसीका (Address) पता हाथ नहीं लगता। क्या मिलता है किसीका पता ? किसीका नहीं मिलता। फेंका-फेंक, फेंका-फेंक चल रही है; बहुत बड़ा तूफ़ान चल रहा है और जीव इधर से उधर पटकता है। जन्म लेता है तब इतना दु:खी होता है ! मरता है तब भी इतना ही दु:खी

होता है और इन दोनोंके बीच भी उसको कहीं भी शांति और सुख नहीं है।

पीड़ा, बाधा ऐसे कितने ही प्रकारके दु:ख आ पड़ते हैं। यहाँ पर उन सभी दु:खोंका स्मरण होता है, परिभ्रमणमें मेरी ऐसी हालत हुई है और इसमेंसे अभी मैं मुक्त नहीं हुआ हूँ।

अनंतकालमें ऐसा कोई काल नहीं गया कि इस Cyclone (तूफ़ानमें) से मैं बच सका हूँ, अभी भले ही पाँच, पच्चीस, पच्चास सालमें पता नहीं होनेसे झूठा समाधान कर लें और शांति रख लें कि नहीं, नहीं ! हमें कोई दिक़्कत नहीं है, लेकिन फिर भी मृत्युका भय तो सभी संसारी जीवोंके कलेजेको काट ही रहा है। प्रति समय मृत्युका भयरूपी चूहा संसारी जीवके कलेजेको खा ही रहा है। कब क्या हो जायेगा ? कुछ नहीं कह सकते क्योंकि ऐसे प्रसंग देखनेमें आते हैं कि कुछ नहीं था और अचानक कुछ हो गया। इसलिये इससे बचने के लिये विचारवान जीव विचार करता है, और जब विचार करता है तब उसको Very first thought - सबसे पहला विचार ऐसा आता है कि अरेरे...! मेरे आत्माने अनंतकालसे परिभ्रमण किया है, उस परिभ्रमणका कारण क्या ? कि संकल्प-विकल्प। पहले संकल्प-विकल्पसे भावभ्रमण होता है उसके फलमें फिर जन्म-मरण करते-करते द्रव्य परिभ्रमण होता है। पहले भाव परिभ्रमण करता है, यहाँ गया, वहाँ गया ऐसे, एक सेकन्ड़में अमरिका जाता है। ज़रा भी देर लगती है क्या ? ठीक वैसे ही यहाँसे (द्रव्यसे) जानेमें भी देर नहीं लगेगी। यहाँसे प्राण छूटते ही वहाँ पहुँचनेमें देर नहीं लगती, एक सेकड़ भी नहीं लगती है। विचार होनेमें तो सेकन्ड़ भी लगती है, जीवको पहुँचनेमें (एक) सेकन्ड़ (भी) नहीं लगती। एक, दो समयमें तो दूसरी जगह पैदा हो जाता

है। इधर तो अभी नक्की करे, करे (कि है कि नहीं) उसके पहले तो जीव वहाँ पहुँच जाता है। इधर तो जब डोक्टर कहता है तब पक्का होता है कि अब (शरीरमें) जीव नहीं है, तब तक तो काफ़ी मिनिटे चले जाते हैं, सिर्फ सेकन्ड़ नहीं जाते। हमारे (जैनधर्मका) विज्ञान ऐसा बताता है कि कोई भी प्राणी देह-त्याग करता है इसके दूसरे समयमें ही कहीं ओर पैदा हो जाता है। बीचमें एक समय विग्रहगतिका है। किसीको दो समय होते हैं, किसीको तीन समय लगते हैं लेकिन वे सभी तो सेकन्ड़के असंख्यातवें भाग हैं। कितने ? करोड़वां भाग नहीं, अरबवां भाग नहीं परंतु असंख्यातवां भाग है। इतना कम समय है।

अब जो ये कुतूहलवृत्ति होती है न ! ये देखना है, और वह देखना है; इसको देखना और उसको देखना (उसमें) जीव पहले भावपरिभ्रमण करता है। तो अब नायग्राफोल्स (Niagra falls) देखने जाना कि नहीं जाना? है ? जाना हो तो केनेडाका पासपोर्ट बनवाना पड़े, उसकी Fees (शुल्क) भरनी पड़े। भावसे भ्रमण करोगे तो द्रव्यसे भ्रमण होगा ही, (वह) समझके चलना। फिर वहाँ देखने जाना हो तो जाना। अभी भावसे और फिर आगे द्रव्यसे। आयुष्यका बंध ऐसे ही हो जाता है। खुदको पता तक नहीं रहता कि मेरा नया आयुष्य कब बंध गया ? और कब उसका उदय शुरू होगा? इसकी खुदको खबर नहीं होती है। उसको तो सामान्य लगता है, कि इसमें क्या ? अमरिका तक जब आये हो तो नायग्राफोल्स तो देखने जाना ही चाहिए न ! दुनियाकी अजायबी है। नायग्राफोल्स तक तो जाना ही चाहिए न ! वे लोग भी सुविधा कर देते हैं। ५० डोलरमें हमें ले जाते हैं। Vusa (वुझा) टिकटमें ले जाते है न ! तो जाते हैं सबलोग। हाँ ! उसी वक्त अगर नये आयुष्यका

बंध हो गया तो वहीं पर पानीका जीव हो जायेगा। उस पानीमें अनेक प्रकारके जीव होते हैं, उसमेंसे किसीमें भी जन्म हो जायेगा, अगर उस वक्त आयुष्यका बंध पड़ा तो। देखते वक्त तो कुतूहलवृत्तिमें बहुत अच्छा लगता है, फिर भले ही तब ठंडसे कपकपी होती हो, तो भी। कुतूहलवृत्तिमें तो मज़ा आता है, लेकिन उसमें हमें कितना नुकसान है ? इसके विज्ञान की हमें खबर नहीं है। हमें इसके विज्ञानका पता नहीं है कि जीव और परमाणुके बीच कब और कैसे-कैसे Refercation (एक की दूसरे पर असर) आते हैं ? उसका फल क्या आता है, इसकी हमें खबर नहीं है, इसलिये हम अपने ढंगसे कल्पनाएं करके जीते हैं, और सुख-दु:खकी कल्पना करके जीते हैं, जिसके फलस्वरूप हमारा परिभ्रमण चालू का चालू रहता है।

इस दु:खसे छूटनेकी इच्छा जिसको अंतरसे हुई है उसको अंतर्ज्ञानसे स्मरण आता है। अंतरके विकल्पसे स्मरण आता है ऐसा कृपालुदेवने नहीं लिखा; बल्कि अंतर्ज्ञानसे स्मरण आता है (ऐसा लिखा है।) उनके श्रुतज्ञानमें वह भाव आता है, अरे! मैंने इतने-इतने दु:ख भोगे हैं क्या ? - उसको Visualize करता है, परिभ्रमणको visualize करता है, परिभ्रमणके दु:खोंको देखता है और पूरा Cyclone - तूफ़ान उसे देखनेको मिलता है और आहाहा.... अहाहा यह जगतमें बड़ा बवंडर चल रहा है। जीवोंकी यहाँ से वहाँ फेंका-फेंकी हो रही है। मेरा भी ऐसा ही हो रहा है। अब मुझे ये नहीं चाहिए; अब ऐसी स्थिति नहीं चाहिए। अब ये नहीं चाहिए माने किसी भी क़ीमत पर नहीं चाहिए, ऐसी बात कृ.देव आगे करेंगे। ``**और इससे समाधिको न भूला हो।**'' वह आत्मशांति को भूला है। किसी न किसी बहाने आत्मशांतिको भूला है। संकल्प-विकल्प करते-

करते कहीं न कहीं उसने मानसिक शांतिकी कल्पना की है और खुदकी आत्मशांतिको भूला है। इसमें तकलीफ तो ऐसे हो जाती है कि किसी वक्त कोई जीव मानसिक शांतिमें आता है तब आत्मशांति के विषयसे ज्यादा दूर जाता है।

हमारे एक मुमुक्षुभाईने विपश्यना - ध्यानके शिबिरोंमें भाग लिया होगा, क्या ? फिर मुझे कहा बहुत अच्छा लगता है, बार-बार जानेका मन हो जाता है, और शांति रहती है। दूसरा कुछ नहीं हो तो (कमसे कम) व्यवहारमें तो थोड़ी सरलता आती है, नम्रता आती है। इस प्रकारका थोड़ा फायदा भी होता है। मैंने कहा देखिये भाई ! ऐसे जो केन्द्र चलते हैं उन्हें बौद्धधर्म के अनुयायी चलाते हैं। किसका चलता है ? जब चौबीसवें तीर्थंकर महावीरस्वामी हुए तब उनके समकालमें गौतमबुद्ध हुए, जिन्होंने बौद्ध धर्मकी स्थापना की। करीब समकालीन हैं। २५०० साल पहले। (मैंने कहा) तीर्थंकर के मार्गसे भी कोई धर्मसाधन ज्यादा अच्छा हो सकता है ऐसी कल्पना आप कैसे कर सकते हो ? दूसरी लंबी-चौड़ी बात करनेका तो प्रसंग नहीं था, उतना समय भी नहीं था। आखरी दिन सिर्फ दस/ पंद्रह मिनिटके लिये रातको बैठे थे। जिसके यहाँ ठहरते हैं, उनके यहाँ धमाल तो ज्यादा होती है, इसमें बात करनेका समय (कहाँ से मिलें ?) सबकी संभाल करें या बातें करें ? क्या करें ? तब इसके टेन्शनमें ही समय जाता है। आखिरमें निकलते वक्त बोले थे कि थोड़ी देर बैठें क्या ? तब उसको कहा कि क्या करें ? बात तो गहरी है, लंबी है। लेकिन फिर भी कमसे कम इतना विचार कीजिये कि सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र परमात्मा तीर्थंकरने जो मार्ग कहा है, उससे बढ़िया धर्मसाधन कोई छद्मस्थ जीव बता सकता है क्या ? सर्व प्रथम तो हमें एक मर्यादा रखनी चाहिए

कि जिनेन्द्र परमात्माके मार्गके सिवा मुझे धर्मसाधनके लिये अन्य कहीं भी, उसे ढूँढ़नेका प्रश्न ही नहीं खड़ा होता, क्योंकि वे वीतराग भी थे और सर्वज्ञ भी थे। उनके लिये कुछ भी अनजाना (अनभिज्ञ) नहीं होता। विश्वमें इनसे आगे ना ही कोई गया है और ना ही कोई जा भी सके ऐसी कोई परिस्थिति भी है। उन्होंने निर्दोषताकी चरमसीमाको प्राप्त किया है और अनुभव करके मार्ग दर्शाया है। इसलिये जिनमार्ग को तो छोड़ना (ही) नहीं है इतनी गाँठ बांधके रखना, बाकी (जैन धर्म) में बात तो Guaranteed (ठोस) ही है। अच्छा है कि हमारे पिताश्रीका यह संप्रदाय नहीं है कि जिससे कोई ऐसा आरोप कर सकें कि आप पक्षपात कर रहें हैं, वरना तो कोई ऐसा कह देवे कि आपके पिताश्रीने ऐसा किया इसलिये आप तो ऐसा ही कहोगे ना ! हमारे पिताश्रीका कुलधर्म तो वैष्णव था इसलिये हमारा आना तो दूसरे प्रकारसे हुआ है। हमारी तो ये बात बिना पक्षपात की है। सभी प्रकारकी जाँच करनेके बाद, ढूँढ़नेके बाद माथापच्ची करनेके बाद, सब जगह माथा भिड़ानेके बाद ये पक्की की हुई बात है कि जिनमार्ग जैसा मार्ग इस विश्वमें दूसरा है ही नहीं, कृपालु देवने कहा है न ! कि जिस प्रकार एक म्यानमें दो तरवार नहीं रह सकती उस प्रकार विश्वमें दो जैन नहीं हो सकते। इसलिये जैनकी बराबरी में कोई नहीं आ सकता। इसलिये तो उन लोगोंने टीका की है कि जैन संप्रदायमें इतने अलग-अलग पंथ क्यों हैं ? और (आज) वैसी हमारी करूणाजनक परिस्थिति है। ``**एक होय त्रण काळमां परमारथनो पंथ**' एक ही मार्ग हो सकता है, एक ही पद्धति होती है, दो पद्धति नहीं हो सकती। काम करनेकी पद्धति एक ही हो सकती है, क्योंकि यह तो Absolute Science है, विज्ञान है, ये कोई रूढि, या धर्म-रिवाज

या कोई Orthodoxy या अंधश्रद्धा थोड़ी ना है ? अर्थात् ऐसा कुछ नहीं है।

प्रश्न :- अन्य धर्मका तुलनात्मक अथवा परीक्षादृष्टिसे अभ्यास करना या नहीं करना ?

पू. भाईश्री :- इतनी (पर्याप्त) शक्ति, इतनी (मात्रामें) योग्यता और उतना समय, तीनों बात अगर साथमें हो तो ही, वरना तो कृपालुदेव जैसे ज्ञानीपुरुषका अनुसरण करना। इसलिये क्योंकि वे अति बुद्धिशाली थे। कैसे थे ? हम लोग उनके आगे कुछ भी नहीं हैं ऐसा ही समझ लो। Intelligency (विचक्षणता) के दृष्टिकोणसे देखा जाय तो १७ वर्षकी उम्रमें शतावधान किये (और) साथमें कहा कि सहस्त्रावधान करना मेरे बाँयें हाथका खेल है, इसलिये उनके पास किसीकी भी बुद्धि तो कम पड़े ऐसा है यह बात नक्की है। और इसकी प्रतीति तो कोई भी उनके वचनोंको अगर पढ़े तो चाहे कैसा भी बुद्धिशाली हो एक बार सोचमें पड़ जाय, एकबार तो विचारमें पड़ जाय कि मेरे जीवनमें जिस बातको मैंने सोचा ही नहीं था ऐसी बात ये कर रहे हैं, और यह बात करनेवाले कोई मेरेसे अधिक है इस बातका विश्वास व प्रतीति आ जायेगी। बराबर ? फिर हमें क्यों माथा मारना ? हाँ ! अगर उनसे ज्यादा बुद्धि हो, उनसे ज्यादा समझ हो, और साथमें योग्यता हो ! योग्यतामें भी क्या ? कि किसीका कोई ज़ोरदार तर्क सामने आये तब हमारा तर्क Bowled हो जाय, क्रिकेटमें होता है उस प्रकार हम बेजवाब हो जाएँ (ऐसा नहीं हो तो), क्योंकि बौद्धिकस्तर पर इतनी सारी बातें हैं, फ़िलासफ़ी (Philosophy) में, अन्य धर्ममतमें भी (इतनी सारी बातें हैं कि) अगर आप जैनधर्मकी पूरी फ़िलासफ़ीको नहीं समझे हो, आपकी समझ अधूरी हो, और ऐसेमें सामने कोई ज़ोरदार तर्क

रख दें तो आपको ऐसा ही लगेगा कि उनकी बात बराबर है, और आपको ऐसा होगा कि चलो भाई छोड़ो जैनदर्शन को, ये लोग बहुत अच्छी बातें करते हैं।

अभी हमारे एक मुमुक्षु रमण महर्षिकी पुस्तक लेकर आये थे, कलकत्तामें। मुझे कहा कि इसके अंदर इतना सुंदर अध्यात्म है और बहुत बढ़िया है। आज भी कृपालुदेव के कितने ही अनुयायी रमण महर्षिका पुस्तक पढ़ते हैं और वहाँ - पांडीचेरी तक चक्कर भी काट लेते हैं। उसने क्या कहा ? कि बहुत अच्छा है, हमारे जैसा ही अध्यात्म है और कृपालुदेव (जैसी) काफ़ी बातें और जैनदर्शनके बहुतसे सिद्धांतोंके साथ मेल खाता है। फिर मैंने उनको कहा कि आपसे एक सवाल पूछूँ क्या? लंबी-चौड़ी चर्चा का तो हमारे पास समय है नहीं कि सर्वज्ञ, वीतराग तीर्थंकर जिनेन्द्रदेव और उनका मार्ग तो इस विश्वमें प्रसिद्ध है। उनके साहित्य और आगम भी प्रसिद्ध हैं। कृपालुदेव जैसे उनके अनुयायी-ज्ञानीपुरुषभी प्रसिद्ध हैं। ये सब कुछ होने पर भी क्या उन्होंने जिनेन्द्रदेवका स्वीकार किया है कि नहीं किया है ये आप कहिये ? तो उन्होंने कहा कि, कहीं पर भी उनको स्वीकार तो नहीं किया है, जिनेन्द्र परमात्माको भी स्वीकार नहीं किया है, साधकको स्वीकार करना तो बहुत मुश्किल है, बहुत कठिन पड़े ऐसी बात है; क्योंकि वे तो बहुत सी प्रवृत्ति करते हुए दिखते हैं, कृपालुदेव भी दुकान पर जाकर बैठते थे, दुकानका समय होते ही ज्योहरी बाज़ारकी दुकान पर जाकर बैठते थे। रुपया कमानेके लिये ही जाते होंगे न ! और घरमें भी बीवी-बच्चे थे, तो ये सब तो संसार ही था, सिर्फ बात करनेसे क्या होता है ? लोग इस प्रकारसे शंका करते हैं लेकिन जिनेन्द्र परमात्मा तो ऐसे हैं कि उनमें तो कोई शंका करनेकी

भी गुंजाइश नहीं है, अंगुली उठाकर नहीं दिखा सके, ऐसे निर्दोष परमात्मा हैं। वीतराग सर्वज्ञ जो हैं उनमें कोई शंका करनेकी गुंजाइश / अवकाश नहीं है। और उनकी तो प्रसिद्धि भी है, उनका साहित्य और उनका स्वरूप समझने के बाद भी उनका अस्वीकार क्यों हुआ ? और अगर इसका अस्वीकार हुआ तो वैसे अध्यात्मकी कीमत कितनी ? हमें तो बात नहीं बैठती है। पहली बात तो है कि उनके देव, शास्त्र, गुरु कौन हैं ? वह देखिये। जगतमें प्रतिष्ठा ज्यादा हो सकती है, किसी भी महात्माकी कितनी भी बड़ी प्रतिष्ठा हो सकती है - वह पुण्ययोग है। प्रतिष्ठा होना कोई बड़ी बात नहीं है। जैसे पैसा मिलता है वैसे प्रतिष्ठा मिलती है उसमें दूसरा कुछ नहीं है। और ये सब तो अधिकसे अधिक पापी प्राणीके पास भी होता है। पैसा और प्रतिष्ठा (तो) कसाईखानें चलाने वाले ज्यादे से ज्यादे पापियोंके पास भी होते हैं। इस मार्गमें इसकी कोई कीमत नहीं है। वीतरागमार्गमें पुण्यकी, पुण्यके फल की कोई कीमत नहीं है। (कहीं पर भी) जिनेन्द्र परमात्माका स्वीकार हुआ है वहाँ ? अगर नहीं स्वीकार हुआ हो (तो) उस पर चौकड़ी लगा दो। हमें कहीं गहराईमें जानेकी जरूरत नहीं है।

इसमें अमुक प्रकारका लक्ष्य होना चाहिए कि कौन निर्दोषताके प्रति ज्यादा अच्छी तरह, ज्यादा सुयोग्य रीतिसे ले जाता है ? उस प्रकारकी तुलनात्मक बुद्धि अगर होवे तो ही तपास/जाँच कर सकता है वरना तपास करने गया हुआ खुद ही अंदरमें कहाँ खो जाता है उसकी खुदको खबर नहीं रहती। गया हो तपास करने, लेकिन खुद ही खो जाता है।

प्रश्न :- गृहीत मिथ्यात्व हो जाता है ?

पू. भाईश्री :- गृहीत मिथ्यात्व के बारेमें तो ऐसा है कि सच्चे

देव, गुरु, शास्त्रका स्वरूप आप बराबर समझ लो कि इसके साथ ही Comparatively रागी देव, गुरु, शास्त्रका स्वरूप आपको समझमें आ जायेगा। फिर तो वीतराग देव, शास्त्र, गुरुका अनुसरण करना वह एक ही बात रहती है, तब गृहीत मिथ्यात्व जाता है। गृहीत मिथ्यात्व कब जाता है ? कि जब बुद्धिपूर्वक अन्यथा विकल्प न रहे तब। बुद्धिपूर्वक दूसरा (अन्यथा) विकल्प होते ही गृहीत मिथ्यात्वमें आ गया (समझे)। इस विषय को सिर्फ बौद्धिकस्तर पर ले जानेमें तो भूल हुए बिना नहीं रहती, यानी कि गृहीतमें आये बिना नहीं रहता, ऐसा यह कार्य है। अगर प्रयोगमें नहीं चढ़ा तो भूल हुए बिना नहीं रहेगी क्योंकि विधिका विषय प्रयोगात्मक है, परिणमनका विषय है और इस प्रयोग द्वारा स्वरूप समझमें आता है, स्वरूपका प्रतिभास आता है। इसके पहले तत्सम्बन्धित विचार काल्पनिक होता है। विधिके सम्बन्धित कल्पना भी होती है और वह गृहीत मिथ्यात्वमें जाती है। इसमें ओघसंज्ञा काम में नहीं आती।

इस प्रकारसे यहाँ ऐसा कहते हैं कि इस जीवने संकल्प-विकल्पसे भावभ्रमण किया, जिसके फलमें अनंतकालसे जन्म-मरण करके परिभ्रमण किया, बहुत अशांति और बहुत दुःखोंको भोगता-भोगता अभी यहाँ तक चला आ रहा है। और अब यह दुःख वास्तवमें संसारके प्रति महावैराग्यको उत्पन्न करता है। किस प्रकारसे ? कि "**निरंतर यह स्मरण रहा करता है**" वरना ये Problem है, इस बात को सुननेके बाद भी हमारे मुमुक्षुओंका यह Problem (समस्या) है कि, बात तो बराबर है परन्तु हमें परिभ्रमणका दुःख निरंतर नहीं लग रहा है, विचार करते हैं, पढ़ते हैं, सत्संग करते हैं, तब समझ में तो आता है, खयाल भी आता है, और वैसी इच्छा भी रखते हैं कि ऐसा कुछ हो तो मोक्षका निर्धार हो सके जिससे

मुमुक्षुकी भूमिका की पूर्णताके लक्ष्यसे वास्तविक शुरूआत हो सके, परन्तु अंत: करणकी शुद्धि होनेके लिये जो वेदना और चिंतना होनी चाहिए वह निरंतर नहीं रहती है यह बड़ी समस्या है, और इसके कारण फलस्वरूप जो तथारूप मात्रामें वैराग्य आना चाहिए वह नहीं आ पाता।

क्या लिखते हैं ? ``**निरंतर यह स्मरण रहा करता है, और वह महावैराग्य को देता है।**'' (अब आप पूछेंगे कि) आप ही बताइये कि अगर निरंतर स्मरणमें न रहता हो तो करना क्या ? तब इस प्रश्नके उत्तरमें (मुझे) एक प्रश्न पूछनेका मन करता है, जिससे आपको बात समझमें आ जायेगी। (दृष्टांत लेते हैं) कि डॉक्टर आपको ऐसा कहे कि ये जो छोटीसी फुन्सी आपको हुई है, जो कि मिट नहीं रही है इसलिये Investigation (जाँच-पड़ताल) में जाना पड़ा है, क्या ? और लेबोरेटरी टेस्ट (परीक्षण) में उसमें केन्सर (Cancer) के चिन्ह स्पष्टरूपसे मालूम पड़े हैं। आपको भले ही अभी ज्यादा पीड़ा नहीं है, इसलिये सामान्य लगता होगा कि ये मिटती नहीं है, महीने, दो महीनेसे चल रही है, बहुतसी Antibiotics (दवाईयाँ) लीं, काफी इन्जेक्शन्स लिये, दवा की, मल्हम-पट्टी की, फिर भी वैसी की वैसी स्थिति है, लेकिन ठीक है इतनी तकलिफ नहीं है परन्तु मिट जाय तो अच्छा है। तब डॉक्टर कहता है कि चलिये थोड़ा Investigation करा लें, Deep Investigation करा लें (क्योंकि) कोई दवा लागू नहीं होती है। ये Antibiotic, वह Antibiotic, उसमेंसे कोई भी लागू नहीं हुई। जब मालूम पड़ा कि केन्सर है (तब) हें...ऐसा हो जाएगा, फिर `आपका वैसा हें...! मिट जाता है क्या ? ठीक है सुन लिया, बराबर है, केन्सर बहुत खराब है, इसमें लोग मर जाते हैं, फिर भी कोई बात नहीं चलो अब दुकान पर जायें ! हमको काम है,

आज फलाने के साथ मीटिंग है, बहुत महत्वपूर्ण मीटिंग है, बहुत लाभदायी महत्वकी मीटिंग हो तो भी क्या होगा? सब पड़ा रहेगा एक तरफ। सभी की सभी बातें एक ओर (गौण) हो जायेगी। चारों तरफ कोल (फोन) हो जायेंगे कि इसकी कोई दवाई है क्या ? (शायद) किसीने खोज की हो ? चाहे कल ही किसीके हाथ कोई जड़ीबुट्टी लगी हो तो भी हमें खबर कर देना। शायद अभी तक हमारे ध्यानमें नहीं हो। क्या इसका कोई इलाज है ही नहीं ? Research (खोज) तो चालू ही है, सारी दुनियाका इसके लिये Research चालू है, शायद कल ही, किसीने Research (खोज) की हो तो ? हमें तो मालूम भी न हो इसलिये हमें तो सब जगह तपास करनी है। कोई हाथ पे हाथ धरके बैठ नहीं जाता, कि चलो दवाई नहीं मिल रही है तो कोई बात नहीं भले ही हम मर जायें तो मर जायें! (लेकिन) नहीं ! किसीको मरना नहीं है। और फिर उसकी चिंता निरंतर चलेगी ? कि उसको वह भूल जायेगा ? हें ! अच्छी मिठाई थालीमें आयेगी तो भूल नहीं जायेगा क्या ? नहीं भूल जायेगा ? अरे ! उस मिठाई खानेका उत्साह गायब हो जायेगा। उसके जठर पर चिंताका इतना असर आ जाता है कि भूख मिट जाती है, जो कुछ भी पहले भाता होगा अब भायेगा नहीं। भाना - नहीं भाना सब छूट जायेगा, नींद उड़ जायेगी।

इस प्रकार ऐसी निरंतर चिंतनाके इस Stage में (परिस्थितिमें) आना चाहिए। सहजरूपसे आनेका बनना चाहिए कि जिसमें खाना, पीना और सोना, सब हराम हो जाय। क्योंकि केन्सर तो इस एक भवका रोग है, जब कि ये तो अनंत भवका भवरोग है, अनन्त केन्सरका जनक है। ये भवरोग इतना बड़ा रोग है और वह भी अनंतकालका Chronic (घर कर गया हो ऐसा) है। यहाँ केन्सर

तो महिने - दो महिनेसे था और तब मालूम पड़ा, जब कि ये तो अनंतकालका Chronic Disease है, घर कर गया है उसको मिटानेकी बात है। कोई छोटी-मोटी बात नहीं है। इतनी गंभीरता और इतनी इस विषयकी चिंता जब उत्पन्न होती है तब अंत:करणकी शुद्धि होकर वैराग्यपूर्वक मोक्षका निर्धार होता है वरना नहीं हो सकता। फिर आगेके Stages आते हैं इसके पहले किसीका ऊपरके Stage में आना नहीं हो पाता। भले कोई ऐसा मान लें कि हम आगे बढ़ चुके हैं, लेकिन वे सभी भ्रममें हैं। भले ही सिर्फ़ ज्ञायक-ज्ञायक ऐसे (रटन) किये जाय, सब भ्रम है। इसमें कोई दम नहीं है। सबसे पहले ये (चिंतना) आनी चाहिए। सभी ज्ञानियोंकी, अनंत ज्ञानियोंकी यह, अनुभवसिद्ध की हुई बात है। समय हो चुका है, आगेका विषय बादमें लेंगे।

परिभ्रमणकी चिंतना / वेदना हुए बिना यथार्थ उदासीनता और मुमुक्षुताका क्रम शुरू होता नहीं। इसलिये स्वच्छन्दका त्याग करके ज्ञानीके मार्ग पर वर्तना योग्य है।

- पू. भाईश्री

श्रीमद् राजचंद्र
पत्रांक-१२८

प्रवचन-३
दि-२५-१२-९७
(रात्रि)

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्रांक १२८ चल रहा है।)

खंभातके मुमुक्षु भाईयों पर पत्र लिखा है। लिखनेका आशय यह है कि जीवको जन्म-मरणसे छूटना है, भवभ्रमणसे मुक्त होना है, लेकिन जीवको मुक्त होनेका उपाय क्या है वह पता नहीं है। इसलिये इस विषयमें अकुलाहट होती है, और जीव बहुत उलझनमें आता हैं। उस जीवकी योग्यता ऐसी होती है कि यह भवभ्रमण मुझे नहीं चाहिये। भवभ्रमणमें बहुत दु:ख है, यह बात उसको महसूस होती है। विचार होना एक बात है, महसूस होना दूसरी बात है, (उसको यह बात) महसूस होती है। ऐसी कोई योग्यता होती है (कि) उस जीवको इस प्रकारके विचार चलते हैं। अंतरात्मामें से ऐसे विचार आते हैं। उसको ऐसे-ऐसे विचार जो चलते हैं, उसे

परिभ्रमणकी चिंतना कहते हैं।

कृपालुदेवने आगे भी एक ८६ नंबरका पत्र लिखा है और पीछे भी एक १९५ नंबरका पत्र लिखा है, बीचमें ये पत्र १२८ नंबरका अभी चल रहा है। ८६ और १९५ नंबरमें एक ही बात है। जिस जीवको मुक्त होनेके मार्गकी इच्छा उत्पन्न हुई हो, उसको धर्मसाधन करनेके सभी विकल्पोंको छोड़ करके, उसको सबसे पहले यही बात विचारमें आनी चाहिये या महसूस होनी चाहिये कि मैं परिभ्रमण कर रहा हूँ और मुझे जैसे-कैसे भी इससे मुक्त होना है। ऐसी बात उसके चित्तमें, उसके अभिप्रायमें उसके विचारमें आनी चाहिये। ऐसा हुए बिना किसीको मार्ग सूझता नहीं, उपाय सूझता नहीं और इतना ही नहीं मार्ग किस दिशामें है उसका भी पता, अल्प भी पता नहीं चलता, बहुभाग जीव इस क्रममें आये बिना, ऐसी चिंतनामें आये बिना, अपने-अपने संप्रदायमें जो भी क्रियाएं चलती हैं, जो भी रिवाज, रूढ़ि, जो भी साधन माने गये हैं उन्हीका अनुसरण करता है। मगर इसका कोई पारमार्थिक फल माने आत्म-कल्याणवाला फल नहीं आता। इसलिये कृपालुदेवने निष्कारण करुणासे इस बातकी प्रसिद्धि की है, कि सब विकल्पोंको छोड़करके पहले यह विकल्प होना जरूरी है और वास्तविकता भी इस मार्गकी यही है कि पहले ऐसा ही होता है (और) वह जीव ही मोक्षमार्ग तक पहुँचता है। जिसको नहीं होता है वह मोक्षमार्ग तक भी नहीं पहुँचता है। वह चिंतना कैसी होती हैं ? इसका वर्णन चार पेराग्राफमें यहाँ पर कृपालुदेवने किया है। सुबह पहला पेराग्राफ चला था। संक्षेपमें फिरसे ले लें !

``**अंतर्ज्ञानसे स्मरण करते हुए ऐसा कोई काल ज्ञात नहीं होता अथवा याद नहीं आता कि जिस कालमें, जिस समयमें इस जीवने**

(माने हमारे जीवने) **परिभ्रमण न किया हो।**" अनंतकालसे यह जीव परिभ्रमण करता आया है। भवभवांतर (से) दुःखी होता-होता, वर्तमानमें अभी मनुष्यभवमें हमारा जीव (आया है) पूर्वके कालमें काफी जन्म-मरण, अनंत जन्म-मरण किये हैं और इसका कारण संकल्प-विकल्प है। कई प्रकारके संकल्प-विकल्प किये हैं, और इस कारणसे वह अपनी आत्म-शांतिको भूला हुआ है।

आत्मशांतिके विषयमें (सुबह) थोड़ा स्पष्टीकरण चला था कि धर्मसाधन करनेवालेको मानसिक शांति मिलती है। चाहे हिन्दु हो, चाहे मुसलमान हो, चाहे खिस्ती हो, चाहे जैन हो, चाहे बौद्ध हो, (सब) अपने-अपने धर्मस्थानमें जाते हैं, वहाँ कुछ न कुछ क्रियाएँ होती हैं, जो मंद कषायरूप होती (हैं) और तब कषायकी मंदता होनेसे मानसिक शांति भी होती है। संसारके कार्योंमें मानसिक अशांति होती है और धर्मस्थानोंमें मानसिक शांति होती है। अशांतिकी बराबरीमें शांति होती है, (तब) जीव संतुष्ट हो जाता है कि चलो बार-बार इधर आना चाहिये तो थोड़ी शांति मिलती रहेगी। फिर क्रिश्चयन चर्चमें सन्डे के सन्डे जायेगा और मुसलमान मस्जीदमें जुम्मे के जुम्मे जायेगा। जुम्मे के जुम्मे माने शुक्रवार, उसको जुम्मेका वार बोलते हैं। सबको ऐसा ही अनुभव होता है कि यहाँ आते हैं तो ठीक लगता है, इसलिये वह रुटीन (Routine) हो जाता है और वैसे चलता रहता है, लेकिन इसमें आत्मशांति नहीं है। संसारके कार्योंके वशात् और अयथार्थ धर्मसाधनके वशात् आत्मशांतिमें जीव भूला हुआ है।

यहाँ कृपालुदेवका कहनेका अभिप्राय यह है कि जिसको आत्मशांति चाहिये उसके लिये यह बात है। जीव आत्मशांतिके विषयमें भूला हुआ है कुछ संकल्प करके, कुछ विकल्प करके, कुछ भी

करके भूला हुआ है। संसारके बहुभाग जीवोंने तो पंचेन्द्रियोंके विषयमें मानसिक शांतिका अनुभव किया, तो कुछ लोगोंने धार्मिक क्रियाओंमें मानसिक शांतिका अनुभव किया। पंचेन्द्रियोंके विषयमें जो शांति होती है उसको मजा कहते है, मजा आता है, (एन्टरटेईनमेन्ट) Entertainment और फिर धर्मस्थानमें भी Entertainment जैसी ही बात हो जाती है। क्योंकि (वह भी) एक मानसिक शांति प्राप्त करनेका तरीका है और कुछ भी नहीं है।

जिनेन्द्रदेवका मार्ग कहो या ज्ञानीपुरुषका मार्ग कहो, कृपालुदेव (उसे) ज्ञानीपुरुषका मार्ग कहते हैं। इसी कारण से तो आज जिनमार्गके नाम से अनेक संप्रदाय चलते हैं; हमारे जैनके नाम से भी (अनेक संप्रदाय चलते हैं) जिसमें ज्ञानी अलग पड़ते हैं, वे संप्रदायमें शामिल नहीं होते। ज्ञानी संप्रदायमें शामिल नहीं होते क्योंकि मानसिक शांतिमें कषायकी मंदता है जो चारित्रमोहकी मंदता है जब कि ज्ञानीके मार्गमें या जिनेन्द्रके मार्गमें सबसे पहले दर्शनमोहकी मंदताका उपाय है। (इसलिये) वह मार्ग थोड़ा अलग पड़ता है। दर्शनमोह मंद हुए बिना दर्शनमोहका अभाव होकर सम्यक्दर्शन नहीं होता, और इसमें जो चारित्रमोह मंद होता है वह सम्यक् प्रकारसे (मंद) होता है।

जबकि जिसका दर्शनमोह वैसाका वैसा रहे और चारित्रमोहको जो मंद करता है, उसका चारित्रमोह कुछ काल तक Temporary मंद होता है, फिर तीव्र हो जाता है क्योंकि मोहकी जड दर्शनमोहमें है, चारित्रमोहमें नहीं है। मोहका एक पेड़ है, उसके मूलमें दर्शनमोह है, बाकी जो पत्ते हैं, फूल-फल हैं वह चारित्रमोह है। मूल वैसा का वैसा रहता है, और पत्ते कोई काटते हैं तो फिर नये पत्ते आ जाते हैं। हम गुजराती में '*पांगरे छे* 'ऐसा कहते है। (वैसे यह) मोहका पेड़ पनपता है, क्या होता है ? हिन्दीमें पनपता है, ऐसा

कहते हैं, क्योंकि मूलमें सिंचन चालू रहता है। थोड़े पत्ते (अर्थात् चारित्रमोहके पत्ते) कोई काटता है त्याग करके या कुछ भी करके लेकिन फिर (नये) पत्ते लग जाते हैं। इसलिये यह सही उपाय नहीं है और यह सही क्रम भी नहीं है।

इस परिभ्रमणकी चिंतनामें सबसे पहले, व्यवस्थित योजनापूर्वक, दर्शनमोह पर घाव पड़ता है, मिथ्यात्व पर घाव पड़ता है, कृपालुदेवने यह बात योजनाबद्ध की है, सारा २५४ नंबरका पत्र तो बिलकुल इसी पर ही लिखा गया है। तो यह १२८ (नंबरके पत्रमें) जो मुमुक्षुता प्राप्त हुई, वहाँ से आगेका विषय २५४ पत्रसे चालू होता है और स्वरूपका निर्णय होवे, पहचान होवे- तब जो स्वरूपसन्मुखता होती है - वहाँ तकका क्रम उसमें लिया है। कि जिस स्वरूपसन्मुखताके बाद तो अल्प कालमें स्वानुभूति प्राप्त होती है और स्वानुभूतिकी उपलब्धि होनेसे मोक्षमार्गमें प्रवेश होकर के मोक्ष तककी प्रक्रिया स्वयं चलती है। क्यों ? कि वहाँ मोहकी जड़ कट जाती है फिर जो हरे पत्ते हैं वे कुछ काल तक रहेंगे, फिर अपने आप सूख जायेंगे, सुखाना नहीं पड़ेगा - सूख जायेंगे।

यह जिनेन्द्रदेवका मार्ग है, लेकिन, लोग जानतें नहीं हैं, जिनमार्गके नाम से दूसरी दूसरी बातें चलती हैं, यह क्रम कहीं नहीं है इसलिये ज्ञानीने इस क्रमका बोध किया, इसलिये `**ज्ञानीका मार्ग**' ऐसा बताया और कृपालुदेवने इसी ग्रंथमें अनेक जगह मुमुक्षुको `**ज्ञानीके मार्ग**' पर चलनेकी शिक्षा दी है। अपनी इसी बात पर वजन दिया है। इसका मतलब यह है कि तुम अपनी मतिसे, मनमानी रीतिसे धर्मसाधन मत करना। जैसे ज्ञानी कहतें हैं, वैसे ही करना (अर्थात्) ज्ञानीके मार्ग पर चलना। और यह जरूरी भी है, बहुत जरूरी है। जैसे कोई गंभीर शरीर रोग उत्पन्न होता है और मरीज़को

(होस्पिटलाइझ) Hospitalise किया जाता है (तब) उसको डॉक्टरकी सूचनामें, डॉक्टरकी परेजमें ही Compulsory रहना पड़ता है। अगर उसको छूटना है, रोग मिटाना है तो Fully surrender (पूरा समर्पित) होना पड़ता है, तो यह भवरोग मिटानेके लिये भी उसके तजज्ञ है वह ज्ञानी है। उन्होंने अपना भवरोग मिटाया है और उनकी सूचनामें ही Surrender होकर चलना पड़ेगा (बादमें) जैसा कहे वैसा करना पड़ेगा, अपनी मनमानी नहीं चलेगी। अपनी मनमानी रीतिसे तो अनंतकालसे धर्मसाधन करता आया है, ``**यमनियम संजम आप कियो, पुनि त्याग बिराग अथाग लह्यो,**'' बहुत किया तो इससे तो कोई (काम) होनेवाला है ही नहीं।

प्रश्न : अनंतकालमें समझ की होगी ?

पू.भाईश्री : हो सकता है। समझ की होगी लेकिन अमलीकरण नहीं किया तो समझ क्या कामकी ? समझ दो प्रकारकी है, एक स्वलक्षी और एक परलक्षी। जो आत्मलक्षी समझ है, उसमें आत्मा अनुसरण करने लगता है। जो समझ है उसको वह अपने परिणमनमें लागू करता है, (Apply) करता है। परलक्षी समझवाला समझमें ही संतुष्ट हो जाता है और (वह) अमलीकरणमें नहीं आता; तो (यह बात) अनंतकालमें परलक्षी ज्ञानमें समझी होगी, (मगर) स्वलक्षी ज्ञानमें समझी जाये (तो तुरंत) अमलीकरण चालू होगा। जैसे हमलोग इस मार्गकी, ज्ञानीके कहे हुए क्रमकी चर्चा करते हैं, लेकिन जो मुमुक्षु परलक्षी ज्ञानमें समझ करता है वह अमलीकरणमें नहीं आता (है) और स्वलक्षी ज्ञानमें आता है वह अमलीकरणमें आता है। (तो) इस तरह दोनोंमें बहुत फर्क है। कहलानेमें तो दोनों मुमुक्षु ही कहलाते हैं। एक ही शास्त्रको पढ़ता है, एक ही सत्संगको Attend करता है। और मानो कहता हो कि आप भी मुमुक्षु हैं, मैं भी मुमुक्षु हूँ,

क्या फर्क हो गया ? लेकिन बहुत फर्क है। इस तरह परलक्षीवाला क्या मानता है-कि यह भी मेरे जैसा है, यह भी मेरे जैसा है, यह भी मेरे जैसा है, - लेकिन ऐसा नहीं है। जो स्वलक्षवाला है वह परलक्षवालेसे कहीं भी बेहतर है। बहुत बेहतर है। यह बात खयालमें रखनी चाहिये। क्योंकि वह अमलीकरणमें आया, और अगर (उसने) क्रममें प्रवेश कर लिया, तो उसके हाथमें सारी ज्ञानीके मार्गकी लाइन (सूझ) आ जाती है। यह चिंतना होनेसे क्या करना इसकी सूझ आती है। इसके पहले कोई सूझ नहीं होती। (यह बात) १९५ (पत्र) में लिखी है। यह जो अंतरकी सूझ है, वह अपने आप मार्ग करती है, अंदरमें ही मार्ग करने लगती है। और जिसको सूझ नहीं है वह अंधेरेमें खड़ा है। फिर वह चाहे कुछ भी करता हो वह Jumping in the dark, Firing in the dark, वह अंधेरेमें सब कुछ करता है, उसको पता नहीं है (कि) मैं क्या करता हूँ ? कहाँ जाउंगा ? किधर जाऊँगा ? कुछ पता नहीं, यूँही करते रहता है, लेकिन अंधेरेमें खड़ा है। स्वलक्षी समझ और परलक्षी समझवाले मुमुक्षुमें इतना बड़ा अंतर है। मुमुक्षु मुमुक्षुमें बड़ा अंतर होता है।

प्रश्न : परलक्षी समझमें कैसे भाव चलते हैं ?

पू. भाईश्री : विरुद्ध भाव चलते हैं, उसमें वह क्या करता है ? बराबरी करता है यह भी मुमुक्षु है, मैं भी मुमुक्षु हूँ, यह भी पढ़ता है-सुनता है, मैं भी पढ़ता हूँ- सुनता हूँ, वह भी मंदिर जाता है, मैं भी मंदिर जाता हूँ, उसकी भी बाहरकी क्रिया तो बराबर सी लगती है न ! (लेकिन) अंदरमें बहुत बड़ा फर्क है, योग्यतामें बहुत बड़ा फर्क पड़ जाता है, यह अंतर (फर्क) भी समझना चाहिये।

वास्तवमें तो जो स्वलक्षमें नहीं आया है, उसको कैसे स्वलक्षमें आना ? (यह बात) उसके पाससे समझनी चाहिये। किसके पाससे ? कि जो स्वलक्षमें आकरके वेदनामें आया हो उसके पास से, यह बात उसको समझनी चाहिये कि आपको क्या हुआ ? कैसे हुआ ? कैसे (वेदनामें) आ गये? हमलोग कोशिश करते (हैं लेकिन) आ नहीं पाते, क्या बात है ? इतनी स्वयंको गरज होनी चाहिये तभी तो स्वलक्षी होनेका मौका है, वरना ऐसे ही चलेगा कि हम सब साथमें सत्संग करते हैं, उसमें क्या हो गया?

दूसरी बात यह है कि परलक्षवालेको दूसरेके दोष बहुत जलदी नजर आते हैं। उसको गुणग्राहीपना कम होता है, या नहीं के बराबर होता है और दूसरे जो मुमुक्षु होते हैं वे कोई सर्वगुणसंपन्न तो होते नहीं। सर्वगुणसंपन्न तो परमात्मा जिनेन्द्रदेव हैं, ज्ञानी भी नहीं (है)। तो (जब दूसरेके) दोष उसको नजर आते हैं, (तब) उसकी मुख्यता हो जाती है और अपने दोष तो दिखते नहीं कि इससे भी ज्यादा (दोष) हमारेमें भरे हैं, वह तो दिखता नहीं। यह गड़बड़ होती है। ऐसी भी कई प्रकारकी जो (विडम्बना) होती है उसका इलाज क्या ? कि Under strict supervision जो Hospitalise होते हैं, उस तरह से सत्संगमें रहना और अपना दोष देखते जाना, कहते जाना, बताते जाना और दूसरेको बतलानेके लिये विनंती भी करते जाना, कि मेरे कोई दोष हो तो बतला दीजिये, मुझे निकालना है। तभी तो स्वलक्षमें आयेगा। यह परिणामोंकी चर्चा इस कारणसे है कि सारे दिनमें आपने अपने, लक्षसे, स्वलक्षसे अपने परिणमनमें कितनी बातें देखी ? क्या-क्या देखा? और दूसरा भी अपना दोष दिखाता है तो अपनेको सुहाता है कि नहीं सुहाता है ? यह भी पता चलेगा।

इस तरहसे जो ज्ञानीका मार्ग है उसमें दर्शनमोहकी ताकत तोड़नेकी एक योजना है, उस योजना अनुसार अगर कोई चलता है तो उसका दर्शनमोह एकदिन अवश्य तूटता है और वह जीव सम्यक्दर्शनको प्राप्त करके मोक्ष मार्गमें चलेगा, आ जायेगा। तो उसका सबसे प्रथम जो चरण है माने प्रथम आचरण करने लायक कोई बात है तो यह परिभ्रमणकी चिंतना है। उसमें वह आत्मशांतिके लिये प्रयास करता है क्योंकि खुद आत्मशांतिके विषयमें ही भूला है। क्या लिखा है ? कि ``**इससे `समाधि' को न भूला हो**'' समाधि माने आत्मशांति।

हमारे श्री निहालचंद्रजी सोगानीजीका इस विषयमें एक जीवंत उदाहरण है कि उनको सत्संग प्राप्त नहीं था इसलिये उन्हें इस विषयमें क्या होना, क्या नहीं होना, कुछ पता नहीं था। संप्रदायके अनुसार सब क्रियाएँ करते रहते थे, लगनसे करते थे, इसलिये बहुत करते थे, शास्त्र भी सारे दिन पढ़ते रहते थे, कभी किसीने योगकी क्रिया - यह जो बताते हैं न ध्यानशिबिरमें? वह बता दी तो वह भी बहुत की, घंटो तक की। योगकी क्रियामें भी उलझे थे, शास्त्रस्वाध्यायमें भी बहुत लगे (रहते) थे और जिनेन्द्रपूजामें भी बहुत लगे रहते थे, छः (६) छः घंटा (लगे रहते थे)। कितना ? ६-६ घंटा। लेकिन कोई बात योजनाबद्ध नहीं थी। फिर भी होनहार अच्छा था तो उनकी आत्मशांतिकी खोज चालू रही। धर्मसाधन करते हुए कभी वे मंदकषायमें संतुष्ट नहीं हुए। इसलिये वे समाधिके विषयमें भूले नहीं, क्या ? To the Point क्या बात है ? कि जीव समाधिके विषयमें भूला है, माने आत्मशांतिके विषयमें भूला है। उनको आत्मशांति नहीं मिलती थी। आत्मशांतिकी पिपासा थी और पिपासाका ऐसा स्वभाव है, एक प्रकारकी तृषा है न ! तीव्र तृषाको पिपासा

कहते हैं। उसका ऐसा स्वभाव है कि जितना काल जाय, उतनी पिपासा बढ़ती जाय और इस मार्गमें यह एक बहुत अच्छा लक्षण है वरना क्या होता हैं कि मुमुक्षु भी यह पढ़ते-पढ़ते, सुनते-सुनते, ठंडे हो जाते हैं और संतुष्ट हो जाते है कि हमने इतने साल तक ऐसा स्वाध्याय किया और अब हमको बहुत गुस्सा नहीं आता है, हमारेमें थोड़ी सरलता भी आ गई है, यह भी हुआ है, हम निवृत्ति भी ले रहे हैं, ऐसा भी नहीं करते, पहले वैसा करते थे अभी वैसा नहीं करते हैं, इस प्रकारके संतुष्टपनेमें सब कुछ आ जाता है। गिनती करनेमें लग जाता है। ये गिनती करना बहुत बुरा लक्षण है। यह दर्शनमोहको बढ़ानेवाला परिणाम है। बहुत बुरा इसलिये है कि दर्शनमोहको बढ़ानेवाले परिणाम हैं। ऐसा हो जाता है, (लेकिन) ऐसा नहीं होना चाहिये। पू. सोगानीजीको पिपासा बढ़ती ही गई, पिपासा बढ़ती गई। जैसे पानी नहीं मिलनेसे कोई तृषावान मर जाता है, उसका प्राण छूट जाता है, वह तृषाकी चरम सीमा है, ऐसा उनका भी हुआ। आत्मशांतिकी पिपासामें उनको लगा अगर मुझे आत्मशांति नहीं मिली तो मेरा ज़िंदा रहना मुश्किल हो जायेगा। यह संकल्प- विकल्पकी अशांति है, भले (ही) धर्मके विषयमें संकल्प विकल्प चलते थे, फिर भी वह अशांति उतनी थी कि *'मेरा ज़िंदा रहना मुश्किल है।'* उनके खुदके शब्दमें यह बात है, या तो विकल्प फटकरके आत्माकी शांति-निर्विकल्पता हो जायेगी, या तो देह छूट जायेगा। दोमें से एक होनेवाला था - या तो विकल्प फटकरके निर्विकल्पता हो जायेगी, या तो देह छूटकरके प्राण छूट जायेगा; देह छूटने -प्राण छूटने से तीसरा कुछ होनेवाला नहीं था। इतनी हद तक आत्मशांतिकी चाहत आई तो कु दरतने व्यवस्था बिठाई, और वे फौरन सोनगढ़ चले आये और ज्ञानीपुरुषका योग हो गया।

सत्संग मिल गया, प्रत्यक्ष योग मिला और एक ही दिनमें उन्होंनें बोधको प्राप्त कर लिया।

कृपालुदेवने ७५१ नंबरके पत्रमें आत्मसिद्धिमें जो तीन प्रकारके समकित कहे हैं, वे तीनों प्रकारके समकित एक (ही) दिनमें प्राप्त कर लिये - देखो ! (प्रत्यक्ष योगका होना) बहुत आवश्यक है, और यह वहाँ राजस्थानमें नहीं था। आत्मधर्म जो यहाँ से निकलता है वह दैववशात् कहो, भाग्यवशात् कहो, उनको भेज दिया गया और वे सोनगढ़ चले आये। एक ही दिनमें प्रत्यक्ष ज्ञानीका परिचय किया, पहचान की; एक ही दिनमें स्वरूपकी पहचान की और उसी दिनमें निर्विकल्प सम्यक्दर्शनको भी प्राप्त कर लिया। तीन समकित एक दिनमें (प्राप्त) कर लिये। (उसका कारण यह कि उनकी) आत्मशांतिकी जो तृषा थी वह चरम सीमाको प्राप्त हुई थी।

अपने पत्रमें जो बात चल रही है वह To the point बात है कि जीव धर्मसाधन करते हए, या नहीं करते हुए, समाधि माने आत्मशांति को भूला हुआ है। इसलिये सभी मुमुक्षुओंमें यह लक्षण (होना) चाहिये- (कि) मुझे मेरी आत्मशांति नहीं मिली है, मुझे मेरी आत्मशांति नहीं मिली है - कुछ भी हुआ हो, लेकिन (मुझे तो) मेरी आत्मशांति चाहिये। कुछ भी हुआ हो मुझे गिनना नहीं है। क्या ? मुमुक्षुकी भूमिकामें जो कुछ हुआ होगा उसे वह गिनेगा ही नहीं, मुझे तो सिर्फ आत्मशांति चाहिये। (अगर) ऐसी चाहत नहीं रही तो आत्मशांतिके लिये प्रयास बंद हो जायेगा। प्रयास ही नहीं होगा, तो फिर तो वह Routine में आ जायेगा। चलो रोज स्वाध्याय करो, सत्संग करो, पढ़लो, सुनलो, यह करलो, वह करलो। संप्रदायमें सब होता ही है ऐसे ही यहाँ हो जायेगा। वहाँ संप्रादयमें होता ही है, जब कि हम (तो) संप्रदायमें गये बिना (ही) संप्रदायमें आ

जायेंगे।

इसलिये यह शब्द जो कृपालुदेवने लिखें है वह काफी अनुभवसे, अनुभवकी गहराईसे लिखे हैं। तो (लिखते हैं कि) वह आत्मशांतिको नहीं भूला हो ऐसा कोई काल नहीं गया। ``**निरंतर यह स्मरण रहा करता है**'' वह बात भुलाई नहीं जाती। उसका समरण रहा ही करता है कि मैंने कितनी बड़ी गलती की और इसके फलमें परिभ्रमण किया, इसका पश्चाताप (होता है)। दोषका पश्चाताप हुए बिना पवित्रता नहीं आती। अनंतकाल से जीव दोषित है, उसको सबसे पहले उसका पश्चाताप हुए बिना पवित्रताकी दिशामें एक कदम भी वह आगे नहीं बढ़ सकता है। परिभ्रमणकी चिंतनामें ये बात होती है, ``**और यह महावैराग्यको देता है।**'' यह स्मरण है, वह महावैराग्यको देता है; यानी बहुत उदासीनता आती है।

जीवको नुकसान करनेवाले परिणामोंमें अनेक प्रकारके परिणाम हैं। उसमें अपेक्षावृत्ति मुख्य है। क्या है ? यह चाहिये, वह चाहिये, यह चाहिये, वह चाहिये - कमसे कम आपने मेरे सामने देखा क्यों नहीं, वह भी एक अपेक्षा है। आपने मुझे यह पूछा क्यों नहीं- वह भी एक अपेक्षा है। जीवको यहाँसे लेकरके कोई गिनती नहीं कर सके (उतनी) अपेक्षावृत्ति होती है यह अपेक्षावृत्ति एक ऐसी अग्नि है कि (जो) जीवको जलाती है और ज्यों-ज्यों अपेक्षित चीज मिलती है वह अग्निमें घी डालनेके बराबर होता है। उसको कभी शांति नहीं मिलती। यह चिंतनामें आनेसे अपेक्षावृत्ति खलास, खतम होती है। देखो ! दर्शनमोहका अनुभाग तो टूटता ही है , साथ-साथ उदासीनताके कारणसे अपेक्षावृत्ति भी मर जाती है। इतनी उदासीनता आती है। उदासीनता और अपेक्षावृत्ति आपसमें प्रतिपक्षमें है, विरुद्धमें है।

प्रश्न : अपेक्षावृत्ति माने तृष्णा ?

पू. भाईश्री : तृष्णा उससे ज्यादा है, बहुत अपेक्षावृत्ति बढ़ जाती है तब उसको तृष्णा कहते हैं। यहाँ तो छोटी-मोटी अपेक्षा भी नहीं होनी चाहिये।

प्रश्न : दूसरेसे सरलता की अपेक्षा रखना वह भी असरलता है ?

पू. भाईश्री : देखो ! मैं सरल हूँ, ये बात सरलतावालोंको नहीं होती। वही असरलता है और दूसरेसे सरलताकी अपेक्षा रखना तो इससे भी ज्यादा असरलतावाली बात है। (वह तो) बहुत असरलतावाली बात है। सरलतावाली कोई बात नहीं है। सरलता अलग चीज है। हमारी सरलता तो ऐसी होनी चाहिये कि मैं दूसरों से क्यों कुछ अपेक्षा रखूँ ? क्यों रखूँ मैं ? मुझे नहीं रखनी है- एक बात, दूसरी बात कि जिसको उदासीनता होती है, उसको अपेक्षा होती ही नहीं (है)। वह तो चिंतामें डूबा हुआ होता है कि मेरे परिभ्रमणका क्या ? मेरे परिभ्रमणका क्या ? मेरा दर्द कैसे मिटे- भवभ्रमणका दर्द/भवरोग मेरा कैसे मिटे ? उसकी चिंतामें जो पड़ा है, उसको अपेक्षावृत्ति नहीं आयेगी। वह उदास,उदास, उदास.....उदास हो जाता है। क्या हो जाता है ? बहुत उदास हो जाता है। यहाँ तक कि खानेमें, पीनेमें भी उसको कहीं रस नहीं आता (है)। जो हरहंमेशका Routine (रुटिन) (दैनिक क्रियाएं हैं) - खाना, पीना और जो हरहंमेशका रस लेनेका Routine भी बन गया है, क्या ? खाने-पीनेका भी और रस लेनेका भी यही Routine है। वह Daily (दैनिक) Routine की जो क्रियाएं है उसमें उदासीन हो जाता (है)। उदासीन होनेसे, इस लाइनमें आनेके लिये अपेक्षावृत्ति जो कि अवरोधक थी, वह (अवरोधक कारण) दूर हो

गया, और अवरोध मिटा तो मार्गमें आनेमें सरलता हुई।

इस चिंतनामें वैराग्यके कारणसे कई प्रकारके पहलू हैं जो कि अपने आप खड़े होते हैं। यह इस क्रममें होनेवाले आनुसंगिक परिणाम हैं - यानी इस परिणामके साथ-साथ दूसरे-दूसरे Co-ordination (मेल) होने लगते हैं, जैसे चिंतना वैराग्यको जन्म देती है, वैराग्य अपेक्षावृत्तिको मिटाता है। ऐसे Co-ordination (मेल) खड़ा हो जाता है और अवरोध मिटता है। इसीलिये पहले भवभ्रमणके विषयमें और इसके कारणरूप अपराधके विषयमें पश्चाताप होता है और भविष्यमें ऐसा होगा तो क्या होगा इसकी चिंता होती है, वेदना आती है और इसके नाश होनेके उपायके लिये वह बहुत छटपटाता है, तरसता है, ऐसी परिस्थिति पैदा होती है।

प्रश्न : अपेक्षा भाव भ्रांति है ?

पू. भाईश्री : हाँ, वह भ्रांति है, वह भ्रांति उदासीनता में आने पर ढीली हो जाती है। अपेक्षा तो सुखबुद्धिके कारणसे है। जितनी भी अपेक्षाएं हैं, इसके पीछे अभिप्राय सुखबुद्धिका है, आधारबुद्धिका भी है, और भोक्ताबुद्धिका भी है। क्योंकि सुख भी भोगना है न ! सुख भी भोगना है तो यह भोक्ताबुद्धि होती है उससे कर्ताबुद्धि भी होती है। यह सब गड़बड़ एकसाथमें होती ही है। इस प्रकार यह उदासीनता आनेसे उसमें ढीलापन आता है। यह सब जो विपरीत अभिप्राय है, बुद्धि माने अभिप्राय (वह) सब ढीले पड़ते हैं। नीवमें जो काम होता है वह बहुत महत्त्वपूर्ण काम होता है। जिसको परिभ्रमणकी चिंतना और वेदना हुई इसका मतलब यह हुआ कि उसको परिभ्रमण नहीं चाहिये। तो अभिप्रायकी दृष्टिसे सोचे तो उसका संसार-परिभ्रमणका अभिप्राय अभी जानेवाला हो गया और अभिप्रायकी दृष्टिसे तब मुक्त होनेका अभिप्राय हुआ। यह अभिप्राय विषयक Change

हो गया है। सभी संसारियोंका संसार बढ़ानेका, (और) भोगनेका अभिप्राय है - (जो) मोक्षसे विरुद्ध (है) और उसी अभिप्रायसे वह धर्मसाधन करता है इसलिये उसके फलमें उसको संसार ही संसार फलता है। सबसे पहले इस अभिप्रायकी फेरबदली होना जरूरी है और नीवमें यह अभिप्राय बदलता है कि जिसके फलमें निर्वाणपद आयेगा। अभिप्रायको बदले बिना, परिणाम बदलनेका, योग्यता बदलनेका कोई अवसर आता नहीं है।

प्रश्न : आग्रह भावमें भी अपेक्षा है ?

पू. भाईश्री : आग्रहमें-जब अपेक्षा तीव्र होती है तो आग्रह होता है। जब अपेक्षा तीव्र होती है तो वह अपेक्षित चीज मिलनी ही चाहिये, नहीं मिली तो इसके लिये छटपटाहट होती है, और तूफ़ान खड़ा होता है, कषाय तीव्र हो जाता है; आग्रहमें कषाय तीव्र हो जाता है, आग्रह होता है तब यह अपेक्षा और तीव्र हो गई, इसकी तारतम्यता बढ़ गई होती है। कृपालुदेवने चारों पैराग्राफोंके अंतमें यह बात लिखी है।

इसका मतलब यह है कि परिभ्रमणकी चिंतना इस-इस प्रकारसे चलती है और तब वैराग्य अनिवार्यरूपसे आता ही है। वैसे तो लौकिक चिंतामें भी यह हालत होती है। कितना भी अपने भानेवाले अच्छे भोजन पर बैठे हो, खाते हो और तब अगर इन्कमटेक्सकी (Income Tax) Raid आ जाये, (तो) क्या होगा ? खानेका रस वैराग्यमें परिवर्तित हो जायेगा, रस उड़ जायेगा- (परिणाम) इन्कमटेक्सकी Raid का सामना करनेमें चले जायेंगे। क्यों? एक चिंता खड़ी हो गई। जब कि यह तो एक कषाय है। इन्कमटेक्सकी Raid की चिंता होना वह भी एक कषाय है जो दूसरे कषाय को मारता है - खानेमें जो रस आता था वह भी कषाय था। जब एक कषाय

दूसरे कषायको मार सकता है तो कषायका अभाव करनेवाली उपायरूप ऐसी (वेदना) कषायको नहीं मारे ऐसा कैसे बनेगा ? वह तो मारे ही मारे, इसमें क्या आश्चर्य है? उसका उपाय ही यही है। यह तो दूसरे विषयमें कषाय परिवर्तित होता है इसकी बात है जबकि यहाँ तो अकषाय स्वभावमें जानेकी बात है। इसलिये इस चिंतासे तो वैराग्य आयेगा, आयेगा, और आयेगा ही, और यह वैराग्य चिंतनाकी यथार्थताको सूचित करता है, अगर वैराग्य नहीं आया तो उसमें कोई चिंता-चिंतना नहीं है, ऐसा समझ लेना। यह साथ-साथ इसका नाप करनेका लक्षण है। इसलिये कृपालुदेवने चारों (पेरेग्राफमें) यह बात ली है। दूसरा पेरेग्राफ कलके स्वाध्यायमें लेंगे।

उदासीनता, वैराग्य, नीरसता भूमिका अनुसार होते हैं। जिसकी यथार्थ प्रकारसे शुरूआत परिभ्रमणकी चिंतनासे होती है। और जैसे-जैसे मुमुक्षुता वर्धमान होती है, वैसे-वैसे उदासीनता-नीरसता भी बढ़ते जाते हैं। उसका लक्षण यह है कि अनुकूलतामें भी अच्छापना नहीं होता, और संसार प्रत्ययी परिणाम होने पर जीवको कायरता आ जाती है। यथार्थ विरक्ति से अनंतानुबंधी कषाय व दर्शनमोहकी शक्ति कम होने से उसका अभाव होनेका अवसर आता है, और मोक्षमार्गमें प्रवेश होता है।

ओघसंज्ञामें बाह्यदृष्टिसे अयथार्थ वैराग्यसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं है, तथापि अवैराग्यदशामें- वैराग्य बिना भी मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं है। मोक्षमार्गमें शुद्ध स्वरूपका अनुभव ही वैराग्य और सर्व उदय प्रसंगमें समभावका उत्पादक है। शुद्धज्ञान जहाँ भिन्नरूपसे ही अनुभव में आता है वहाँ सहज नीरसता रहती है। - पू. भाईश्री

श्रीमद् राजचंद्र
पत्रांक-१२८

प्रवचन-४
दि-२६-१२-९७
(सुबह)

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्र १२८ चल रहा है । परिभ्रमणकी चिंतना किस-किस, प्रकारसे होती है उसका अपने अनुभव से वर्णन कर रहे हैं। दूसरे पेरेग्राफसे (आगे लेते हैं)।

``और स्मरण होता है कि यह परिभ्रमण केवल स्वच्छंदसे करते हुए जीवको उदासीनता क्यों न आई ?''

स्वच्छंद माने तीव्र रसवाला कषाय। वह भी स्वच्छंदका एक प्रकार है कि जिसमें कोई हिचकिचाहट नहीं होती -Without hesitation (बिना हिचकिचाहट) लौकिक प्रवृत्तिमें तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभके परिणाम होते हैं उसको स्वच्छंद कहते हैं। धार्मिक प्रवृत्तिमें ज्ञानीकी आज्ञामें नहीं चलकरके अपनी मनमानी करना वही स्वच्छंद है। यानी ज्ञानी के मार्ग पर नहीं चलकरके अपनी कल्पनासे धर्मसाधन करना वह स्वच्छन्द है। इस प्रकारसे स्वच्छंद करते हुए जीवको उदासीनता

क्यों नहीं आई ? `इस प्रकार नहीं करना चाहिये था'- ऐसा क्यों नहीं आया ? `हमको ऐसा नहीं करना चाहिये' - ऐसा क्यों नहीं आया ?

शरीरके दर्दके विषयमें हम ऐसी गलती नहीं करते हैं। हम क्या? गँवार आदमी होता है वह भी नहीं करता, हम तो कुछ बुद्धिजीवी लोग हैं, बुद्धिसे कुछ और काम करते हैं, बुद्धिसे जीवन जीते हैं। हम अपना उपजीवन - कमाई वगैरह बुद्धिसे करते हैं लेकिन जो गँवार होता है, शारीरिक परिश्रमसे ही पेट भरता है, उसको भी जब दर्द होता है तो वह डोक्टरके पास जाता है, वह भी अपने आप दवाई नहीं खाता और न ही कोई इलाजकी पुस्तक पढ़नेका प्रयास करता है। हमलोग क्या करते हैं? या तो ग्रंथ पढ़नेको बैठ जाते हैं, या तो व्रतादि उपवास कर लेते हैं, जैसा मनमें आया वैसा कर लेते हैं। जिसके पास शरीरबल है वह व्रतादिमें चले जाते हैं, जिसके पास बुद्धिबल है वे ग्रंथ पढ़नेमें चले जाते हैं, तनबल और मनबल, अब रहा धनबल। जिसके पास पैसे हो वह दान देनेमें चले जाते हैं और मानते हैं (कि) हम कुछ धर्म करते हैं लेकिन इस विषयके तजज्ञ कौन है ? ज्ञानी कौन है ? और कैसे यह धर्मसाधन करना चाहिये ? यह बात समझे बिना हम अपनी मनमानी कर लेते हैं।

ऐसे ही अनंतकाल बीता है; और इसलिये परिभ्रमण छूटा नहीं, परिभ्रमण मिटा नहीं, जिसको मिटानेकी अभिलाषा है, जन्म-मरणसे जिसको छूटना है, उसको यह विचार आता है कि हमने ऐसा क्यों किया ? ऐसी गलती क्यों की? जबकि नहीं करनी चाहिये थी ! ``**दूसरे जीवोंके प्रति क्रोध करते हुए, मान करते हुए, माया करते हुए, लोभ करते हुए या अन्यथा करते हुए, यह बुरा है,**

ऐसा यथायोग्य क्यों न जाना ?'' यह अहितकर है, आत्माको अहितकरनेवाला है, ऐसा क्यों नहीं जाना ? `**यथायोग्य**' क्यों नहीं जाना ? माने क्रोध, मान, माया, लोभके परिणाम जो होते हैं, इसको यथार्थतामें जानना चाहिये था। यथार्थतामें माने क्या ? मुमुक्षुकी भूमिकाके (परिणाम) कैसे होते हैं ? ज्ञानीकी भूमिकाके परिणाम कैसे होते हैं ? मुनिकी भूमिकाके परिणाम कैसे होते हैं ? यह चार प्रकारकी कर्म-प्रकृतियाँ हैं,- क्रोध, मान, माया लोभ, सभी जीवोंको यह चारों प्रकृतियोंका उदय क्रमसे आता है, कभी दों का या तीनका साथमें भी उदय आता है - कभी किसीको चारों मुख्य होती है, कभी किसीको तीन मुख्य होती है, कभी किसीको दो मुख्य होती है, तो कभी किसीको कोई एक मुख्य होती है, और बाकी की तीन सामान्य होती है तो इस विषयमें मुमुक्षुकी भूमिकामें अनंतानुबंधीका प्रकार क्या है ? ज्ञानीकी भूमिकामें अनंतानुबंधीका प्रकार जानेसे यह चार प्रकृतियोंके परिणाम कैसे होते हैं ? मुनिकी दशामें संज्वलनके प्रकार कैसे होते हैं ? ऐसा कुछ भी यथायोग्य नहीं जाना। इसलिये हमने जो मुनि नहीं है उनको मुनि माना, जो ज्ञानी नहीं है उनको ज्ञानी माना, ज्ञानी है उनको अज्ञानी माना, और मुमुक्षुको भी नहीं पहचाना कि कौन कैसे होते हैं ? किसीको यथायोग्य नहीं जाना। क्योंकि यह दोष है, परिचित है इसलिये समझमें तो आता है लेकिन कहाँ कैसे होता है उसका विज्ञान हमारे पास नहीं होनेसे हम (इसकी मर्यादा) जानते नहीं है।

इसलिये ``**ऐसा यथायोग्य क्यों न जाना ? अर्थात् ऐसा जानना चाहिये था,**'' यह जानना जरूरी था, हमारे हित-अहितके लिये जानना जरूरी था। ``**फिर भी न जाना; यह भी पुन: परिभ्रमण करनेसे विरक्त बनाता है।**'' नहीं करनेके विषयमें, `करनेसे' माने नहीं करनेके

विषयमें वैराग्य को देता है; कि अब परिभ्रमण नहीं करना है। यह जो परिभ्रमण के कारण हैं उनको छोड़ देना चाहिये। खास करके अपने जो तीव्र परिणाम हैं - क्रोध, मान, माया, लोभके और हमारी धर्मप्रवृत्ति जो ज्ञानीकी आज्ञा अनुसार नहीं है, उस विषयमें हमको इस प्रकारके परिणाम होने चाहिये कि यही हमारे परिभ्रमणके कारण हुए हैं, अभी हमको इस परिभ्रमणसे छूटना है - अब परिभ्रमणमें जाना नहीं है, इस तरहसे वैराग्यपूर्वक परिणाम चलने चाहिये तभी तो रस कम होगा।

मुमुक्षुकी भूमिकामें जो वैराग्य होता है, उसमें नीरस परिणामको वैराग्य कहते हैं। लोग त्यागको वैराग्य समझते हैं, लेकिन मुमुक्षुकी भूमिकामें यह बात नहीं है। फिर भी कोई (त्याग) करता है, ठीक है। लेकिन वास्तवमें नीरसपना वही वैराग्य है और वही उस भूमिकाका त्याग है। क्रोध, मान, माया, लोभके परिणाममें नीरसता आनी चाहिये। वह चारित्रमोहके परिणाम हैं, चारित्रमोहके परिणाममें परिभ्रमणकी चिंतना के कारणसे अगर नीरसता आयी तो दर्शनमोह जो है उसकी शक्ति भी कमजोर होगी। क्या सम्बन्ध हुआ ? क्या बात ली है ? कि चारित्रमोहके परिणाम स्वच्छंदसे किये माने तीव्र रससे किये। जबकि जिसको परिभ्रमणकी चिंता होती है उसके क्रोध, मान, माया, लोभके परिणाम फीके हो जायेंगे। फीके होनेसे दर्शनमोहके परिणाम भी कमजोर हो जायेंगे। ये दोनों बातें बननेसे ज्ञानमें निर्मलता (आती है अर्थात्) अपने हित - अहितकी सूझ, (और) इस प्रकारका विवेक प्राप्त होता है। इस प्रकारसे चारित्रमें, श्रद्धामें और ज्ञानमें तीनोंमें - जो कि प्रधानगुण हैं उसमें फेरफार होता है। उसीको एक शब्दमें कहते हैं `**पात्रता**'। एक शब्दमें उसको `**पात्रता**' बोला जाता है। मुमुक्षुकी पात्रता, मोक्षार्थीपना, आत्मार्थीपना - उसमें क्या होता है ?

कि उसका जो दर्शनमोह है वह कमजोर होता है, उसके ज्ञानमें हित-अहितका विवेक प्राप्त होता है और उसके चारित्रमोहके परिणाम फीके हो जाते हैं। इस प्रकार मोक्षमार्गमें जो सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र होते हैं, उन तीनों प्रधान गुणोंमें, इस प्रकारका फेरफार मुमुक्षुतामें आ जाता है और वही फेरफार आगे बढ़करके जब तीनों गुण आत्मसन्मुख होते है तब उसको सम्यक्त्व कहते हैं। यह परिभ्रमणकी चिंतनासे इस पात्रताकी शुरूआत होती है और वह वैराग्यसमेत होती है।

``**और स्मरण होता है कि जिनके बिना एक पल भी मैं न जी सकूँ, ऐसे कितने ही पदार्थ** (**स्त्री आदि**)**, उनको अनंत बार छोड़ते, उनका वियोग हुए अनंत काल भी हो गया; तथापि उनके बिना जीवित रहा गया, यह कुछ कम आश्चर्यकारक नहीं है।**'' क्या कहते हैं ? (पहले) रागका विषय लिया (है), जीवको तीव्र राग होता है। पतिको पत्नी पर (होता है), पत्नीको पति पर होता है, कि उसके बिना मैं जी नहीं सकता, मेरा जीवन नहीं चल सकता, तीव्र राग ऐसा होता है। अनंतकालमें ऐसे परिणाम बहुत किये और ऐसे पदार्थ भी छोड़े, वियोग भी हुआ, क्योंकि आयुष्य पूरा होता (है), - खुदका (आयुष्य पूरा) होता है, या सामनेवाले का (आयुष्य पूरा) होता है। किसी न किसीका तो आयुष्य पहले पूरा होता ही है। (फिर भी) चलते हुए जीवनमें ऐसा लगता है कि मैं जी नहीं सकूँगा, इसके बिना मैं जी सकता नहीं। ऐसा तीव्र राग किया है। फिर भी अभी तक इसके बिना खुद मरा नहीं, जिंदा हैं और यह वर्तमान विद्यमानता इसकी सबूत है कि वर्तमानमें हम जिंदा है फिर तो वह बात जो हमारे अनुभवमें आई थी कि हम नहीं जी सकेंगे, - हम नहीं जी सकेंगे, वह बात बिलकुल गलत थी।

गलत थी माने कल्पनामात्र थी, क्या ? कल्पनामात्र थी, ऐसा ही कहेंगे।

``**अर्थात् जिस जिस समय वैसा प्रीतिभाव किया,**'' राग कहो या सांसारिक प्रेम कहो, प्रीति कहो एक ही बात है, ``**जिस जिस समय वैसा प्रीतिभाव किया था उस उस समय वह कल्पित था।**'' क्या था ? कल्पित था। वास्तविक परिस्थिति वैसी नहीं थी। कभी-कभी ऐसा होता था (कि कोई) मनुष्य/आदमी मर जाता है तो उस जमानेमें (उसकी) स्त्री उसके पीछे सती हो जाती थी। वह भी उसके साथ चिता पर जल जाती थी कि अब हमारा जिंदा रहना कोई जरूरी नहीं है। ऐसी एक मान्यता है कि वह जहाँ गया उसके साथ मैं भी वहाँ चली जाऊँगी। ऐसा कोई संभव नहीं है कि जो मर गया (है) उसके साथ कोई दूसरा मरे तो (दोनों) साथमें ही जायें। यह कोई हमारे कंट्रोल (Control) की बात नहीं है। इसलिये कि जीवनमें जो भी कर्मबंधन किए हैं, सबने अलग-अलग प्रकारके किये हैं, और अपना कर्म भोगने के लिये अलग-अलग भोग्यस्थानमें वह उत्पन्न हो जाते हैं। इसमें किसीका बस नहीं चलता है, कि हम इसके पीछे जाएँ, और साथमें रहें। ऐसा साथमें रहनेका राग है वह (राग) काममें नहीं आता। फिर भी तीव्र रागवशात् कोई ऐसा भी कर लेते थे, अभी तो वह जमाना चला गया है लेकिन एक जमानेमें ऐसा भी कर लेते थे। फिर भी उस रागके अनुसार वस्तुस्थिति तो है ही नहीं।

वस्तुके स्वरूप अनुसार सिद्धांत ऐसा है कि रागके अनुसार वस्तुका स्वरूप है ही नहीं। (किसी) भी प्रकारका राग ले लो, या द्वेष ले लो, या कोई भी विकारभाव ले लो किन्तु उसके अनुसार वस्तुका स्वरूप नहीं है, यह सिद्धांत है। बताईये, एक भी दृष्टांत

लेकर कि ऐसा राग हुआ और वस्तुका स्वरूप वैसा ही हो, क्यों? क्योंकि राग दूसरे पदार्थ पर किया जाता है, जिसमें कोई चेतन है, तो कोई अचेतन है। अब दो पदार्थ तो भिन्न है, जीव रागसे सम्बन्ध जोड़ता है। रागके माध्यमसे दूसरे भिन्न पदार्थोंके साथ जीव सम्बन्ध करता है। वास्तवमें दो पदार्थोंके बीचमें सम्बन्ध कभी है ही नहीं। दो पदार्थोंके बिचमें द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे, चारों पहलुओंसे अत्यंत अभाव है, अभाव है माने एक दूसरेमें एक दूसरेका हस्तक्षेप होनेका कोई प्रकार बनता नहीं है। जो भी परिणाम होते हैं दोनोंमें अपनी-अपनी योग्यताके कारणसे, अपनी अपनी योग्यता अनुसार होते है। सभी पदार्थ अपने गुणधर्म अनुसार परिणमन करते रहते हैं, यह पदार्थका विज्ञान है। इसमें इच्छा, राग, द्वेष, मोह कुछ काममें नहीं आ (सकता)। संसारके लोग जो उससे अनजान हैं वे चाहते हैं कि हमारी इच्छा अनुसार बनता रहे लेकिन ऐसा बनता नहीं।प्राय: ऐसा बनता नहीं है। इसलिये खेदखिन्न होते हैं, आकुलित होते हैं, दु:खी होते हैं लेकिन दु:खका कारण जानते नहीं कि हम दु:खी क्यों हुए? उसका कारण जानते नहीं। एक ही बातकी जिद, हठ होती है कि पदार्थ मिलेगा तो मैं सुखी हो जाऊँगा, नहीं मिलेगा तो मैं दु:खी हो जाऊँगा लेकिन मिलने पर सुख होता नहीं, क्योंकि सुखके लिये फिर और प्रयास चालू ही रहता है। वास्तवमें अगर सुख मिल जाता तो कोई सुखके लिये प्रयास नहीं करता।

यहाँ मनुष्यलोकमें तो उतना पुण्ययोग नहीं है जितना देवलोकमें है। फिर भी वहाँ आकुलता की अग्नि बहुत-बहुत होती है, सामान्य नहीं होती है - बहुत होती है। वहाँ कोई व्यापार, धंधा, व्यवसाय, नौकरी कुछ नहीं है। सब संपन्न है, बीमारी नहीं है, वहाँ कोई

डोक्टर नहीं है, देव धन्वन्तरी वैद्य होते हैं, लेकिन देव तो बीमार होते नहीं इसलिये उसकी जरूरत नहीं पड़ती है। न बचपन है, न वृद्धावस्था है फिर भी वे लोग बहुत दु:खी हैं, बहुत दु:खी हैं। क्या कारण है ? कि समाधान नहीं होता है। सुख नहीं मिलता है इस विषयमें कोई समाधान नहीं मिलता है और वहाँ पर भी अधिक-कम, अधिक-कम पुण्यवाले देव होते हैं। जो कम पुण्यवाले होते हैं, वे अधिक पुण्यवालेसे ईर्षा करते हैं। जैसे इधर होता है। इधर भी क्या होता है ? जैसे मानो चलनेवाला (या) सायकिल चलानेवाला गाड़ीसे खुद टकराएगा, फिर भी मार किसको पड़ेगी ? गाड़ीवालेको। क्यों ? ऐसा क्यों ? ये कोई न्याय है क्या ? गलती गाड़ीवालेकी नहीं हो और फिर भी मार किसको पड़ती है? गाड़ीवालेको। क्यों ? गाड़ीवालेकी ईर्षा है न ! सबके पास गाडी नहीं होती तो जिसके पास है उसने ऐसा क्यों किया ? बस ! और कुछ देखेंगे नहीं, कोई विचार नहीं करेंगे ! यह ईर्षाका प्रमाण, लोभकी तीव्रताके कारणसे, देवलोकमें सबसे अधिक है। इसलिये वहाँ देवलोकमें सब बहुत दु:खी हैं। कितने दु:खी हैं ? बहुत दु:खी हैं।

हमारे यहाँ होता है कि नहीं होता (है) ? जो बड़े-बड़े (इन्डस्ट्रीएलीस्ट) Industrialist होते हैं वे (दूसरेका) Murder (खून) कराते हैं कि नहीं कराते ? किसीको गिरानेमें, मारनेमें कितनी (राजनीति) चलती है !? उन लोगोंके पास लाखों - करोड़ों रुपये होनेके बावजूद भी कितने दु:खी हैं ? अगर इनके परिणामकी Film (फिल्म) दिखाई जाए तो पता चले (कि) बहुत दु:खी हैं - हमारेसे ज्यादा दु:खी हैं।

इसलिये संसारमें गरीब भी सुखी नहीं है और धनवान भी सुखी

नहीं है। मनुष्य भी सुखी नहीं है और देव भी सुखी नहीं है। तिर्यंच, नारकीके विषयमें तो कहने की जरूरत नहीं है कि वे तो दु:खी हैं ही। इसलिये चारों गतियोंके परिभ्रमणसे छूटनेके लिये हमारा प्रयास होना चाहिये और वह प्रयास होनेमें कैसे-कैसे से परिणामसे हमारा परिभ्रमण हो रहा है ? यह बात हमारी समझमें आनी चाहिये, हमारी सूझमें आनी चाहिये और इस विषयमें इसका निषेध होना, इसका कड़ा निषेध होना यही परिभ्रमणकी चिंतना और वेदना है। ऐसा हुए बिना छूटनेके मार्गमें कोई आगे नहीं बढ़ सकता है।

ऐसा राग और प्रीतिभाव कल्पित था, ``**ऐसा प्रीतिभाव क्यों हुआ ? यह पुन: पुन: वैराग्य देता है।**'' मुझे ऐसा क्यों हुआ ? ऐसी कल्पना मैंने क्यों की ? कि जिससे मेरा परिभ्रमण और बढ़ गया ! ऐसा मैंने क्यों किया? ऐसे तीव्र रागके परिणाम परिभ्रमणको बढ़ानेवाले हैं। अब सवाल यह पैदा होगा कि क्या परिवारके सदस्य हैं उनके प्रति राग नहीं होना चाहिये ? यह तो हमारी Feelings है, और वही हमारा जीवन है - अगर वह Feeling नहीं रहेगी तो फिर जीवनमें क्या रहेगा ? क्या बचेगा ? यह सवाल पैदा होता है। यह सवाल किसको पैदा होता है ? कि जिसको परिभ्रमणकी चिंता नहीं है उसको; परिभ्रमणकी चिंतावालेको यह बात नहीं रहती है। यह भी एक सवाल सामने आयेगा; जब कि यह सवाल तो आप लोगोंको उठाना चाहिये कि जब Feelings आपसमें नहीं रहती है तो फिर एक दूसरे के प्रति जो Duty (फर्ज) है, उसका पालन कौन करेगा ? ऐसी बात सुनकरके तो बेटा-बापकी सेवा नहीं करेगा तो इसका क्या ? फिर घर, गृहस्थी(की) व्यवस्था, समाज व्यवस्था कैसे बैठेगी ऐसा सवाल सामने आयेगा। देखो! यह मार्ग विवेकका

है, अविवेकका नहीं है-यह बात तो ठीक है कि नहीं ? विवेक माने परम विवेकका है। अब जिसको आत्माके स्वयंके हित-अहितके विषयमें विवेक जागृत हुआ हो, उसको परस्परका लौकिक व्यवहारमें कैसे आपसमें सुख-शांतिसे रहना चाहिये यह बात अच्छी तरह समझमें आती है। उपदेशका यह मतलब नहीं है कि आप कोई व्यवहारिक फर्ज या duty हो उसे बंद कर दो, ऐसा उपदेशका आशय नहीं है। लेकिन ऐसे कार्य करते हुए (जो) अपनत्व करते हैं, उसको बंद कर दो (यह कहनेका आशय है)।

जैसे एक बच्चा एक सालका है-छ: महिनेका है समझो, उसकी माँ अपनत्व करके उसका पालन-पोषण करती है और एक नौकरानी होती है वह भी उसकी परवरिश करेगी, माँ भी परवरिश करेगी और राजा, महाराजा, श्रीमंतशेठ के वहाँ ऐसी Lady (आया) रखी जाती है जो माँ से भी ज्यादा अच्छी तरह से परवरिश करती है। क्यों ? कि आया उस विषयमें Expert होती है। इसलिये तो उसको वह नौकरी दी जाती है - कि बच्चोंकी परवरिश करनेमें वह बहुत Clever, बहुत Expert होती है और माँ से भी अच्छी (परवरिश) करती है। अत: बच्चोंकी परवरिश करना इसमें कोई अपराध नहीं है लेकिन मेरा बच्चा-ऐसे परिणाम होना अपराध है।

घरमें कोई बीमार हुआ। उसकी दवाई लेने जाना, उसके लिये कोई सेवाकी जरूरत हो तो वह कार्य करना ये कोई अपराध नहीं है लेकिन *'ये* मेरे फलाने हैं इसलिये मैं करुँ' यह परिणाम अपराध जरूर है। क्योंकि यह ममत्व है वह भय और सभी प्रकारके दु:ख और दोषका उत्पादक है। इसलिये दो में फर्क पड़ता है, फिर भी किसीको कोई Problem (समस्या) हो तो उसकी चर्चा कर सकते हैं, कि आपको क्या-क्या Problem आते हैं बताईये-कैसे होना चाहिये ?

कैसे नहीं होना चाहिये ? व्यवहारिक कार्य बराबर करो, लेकिन भिन्नत्व रखते हुए, भिन्नत्व समझते हुए; अपनत्व नहीं करना है इतनी सी बात है। क्योंकि हमारा अस्तित्व और दूसरे जीवका अस्तित्व एक नहीं है। भिन्न भिन्न अस्तित्व है। ममत्व करनेसे कोई फायदा नहीं है बल्कि नुकसान ही नुकसान है। ममत्व करनेसे नुकसान ही नुकसान है कोई फायदा नहीं है और काम तो होनेवाला ही होता है, नहीं होनेवाला नहीं होता है। किसीके चाहनेसे होता है ऐसी बात नहीं है। जैसे हम चाहेंगे कि घरमें कोई बीमार पड़े ही नहीं और फिर भी बीमारी आ जाए तो दवा देते ही वह ठीक हो जाना चाहिये-लेकिन ऐसा कोई संभव नहीं है। होनेवाला ही होता है, नहीं होनेवाला नहीं होता है। हमको अपनत्व नहीं करके Duty Perform करना है। Duty (कार्य) तो कर लेना है लेकिन अपनत्व करके नहीं करना है इतना फर्क है। यह बात भीतरकी रही, बाहरमें तो अच्छी तरहसे काम होगा, भीतरमें परिणाम बदल जायेंगे, जिससे खुदको दु:ख नहीं होगा, आकुलता नहीं होगी वरना ममत्व है वहाँ भय तो पहले आता है, ममत्वके साथ भय (तो होता ही है।)

देख लो आप, जहाँ-जहाँ ममत्व होता है, जितना ममत्व ज्यादा, उतना भय भी ज्यादा और उतना दु:ख भी ज्यादा। Practical बात है, एकदम Practical बात है।

जब (दूसरा) पदार्थ भिन्न है तो ममत्व करने से क्या फायदा ? जब वस्तुस्थिति ऐसी है कि भिन्न-भिन्न पदार्थ है, हमारा अस्तित्व ही वहाँ नहीं है, हम अपनत्व क्यों करते हैं ? खुद ही धोखा खा जाते हैं कि यह लड़का मेरा है, यह मेरी है, वह मेरा है-(सब) गड़बड़ है। जब कि अपना अस्तित्व इधर है, उसका अस्तित्व

उधर है और हम चाहें वैसे हर समयके परिणाम भी अगलेके होते नहीं हैं। हम चाहें कि (उसका ऐसा) परिणाम होवे, उसका ऐसा भाव होवे, उसको ऐसा भाव होवे, और उसको ऐसा भाव होवे - लेकिन ऐसा हो सकता है क्या ? उनके भाव उनकी योग्यता के अनुसार होंगे, हमारे भाव हमारी योग्यताके अनुसार होंगे, एक दूसरेके परिणाम करवा सकते हैं क्या ? कभी संभव नहीं है।

प्रश्न : क्या अभिप्रायमें परायापन रखना ?

पू.भाईश्री : अभिप्रायमें यह बात है, कि सब भिन्न-भिन्न है बाकी बाहरकी जो Duty है वह perform कर लेनी है। अभिप्रायमें भिन्नता (होनी चाहिये) समझमें तो अभी यह समझना है।

प्रश्न : आत्म-कल्याण का लक्ष्य सबसे पहला रखकर प्रवृत्ति करनी ?

पू. भाईश्री : पहले ही आत्म-कल्याणका लक्ष्य करना । सबसे पहले ही आत्मकल्याणका लक्ष्य करना। बगैर लक्ष्यकी प्रवृत्ति क्या कामकी ? और आत्मकल्याणका लक्ष्य नहीं है, वैसे तो संसारके जीव भी जीते हैं। सब ऐसे ही जी रहे हैं। पहले तो ये (लक्ष्य) होना ही चाहिए। तभी उसके अनुसार सब प्रवृत्ति यथायोग्य लक्ष्यपूर्वक चलेगी, वरना नहीं चलेगी।

एक सवाल है। स्पष्टता और भी कर लें। कभी-कभी आत्मकल्याणके लक्ष्यवाला जीव अपने आत्मकल्याणके मार्गमें आगे बढ़ता है; अग्रेसर होता है तब उसका सांसारिक Duty पर लक्ष्य कम हो जाता है। तब साथमें रहनेवालेको ऐसा महसूस होता है कि मेरे प्रति Negligence (उपेक्षा) intentionally (इरादापूर्वक) हो रही है। क्या ? इरादापूर्वक मेरे प्रति वह बेदरकार है और यह (हम) बर्दाश्त नहीं कर सकते, क्या ? यह बात हम बर्दाश्त... (नहीं कर

सकते)। यह बात बनती है तब परिस्थिति नाजुक हो जाती है, तब परिस्थिति, थोड़ी नाजुक होती जाती है। ऐसी परिस्थितिमें क्या करना चाहिये ? किसको - क्या करना चाहिये ? जिसको असमाधान होता है उसको क्या करना चाहिये ? कैसे समाधान लेना यह प्रश्न तो आपलोगोंको उठाना चाहिये कि नहीं चाहिये ? अनुभव तो होता ही है। वास्तवमें इसकी चर्चा कर लेनी चाहिये कि ये ऐसे कैसे हो रहा है ? अगर Honestly मतलब प्रमाणिकरूपसे यह बात हो कि वह अपने आत्मकल्याणके परिणाममें लगे हुए हैं और इसलिये दूसरी ओर ध्यान नहीं जाता हो (तो) इस बातको बर्दाश्त कर लेना अच्छा है। (कि) यह हम तो नहीं कर सकते हैं लेकिन जो करते हैं उनकी अनुमोदना तो कमसे कम करें ! वह हमारे लिये अच्छा है। हमारे लिये इस मार्गमें आनेके लिये यह अच्छी बात है लेकिन हम अपनी सुविधाके लिये इतने Selfish (स्वार्थी) नहीं हो जाएँ कि अगला अपना मार्ग छोड़करके हमारे प्रति ध्यान देने लगे, ऐसा नहीं होना चाहिये। और हमारी जो अपेक्षावृत्ति है वह हमको ही दुःखदायक है। हम दूसरे से क्यों अपेक्षा रखें ? क्या कारण है ? जितनी अपेक्षावृत्ति रहेगी उतना उदासीनतासे दूर जानेका है। जितनी अपेक्षावृत्ति होगी उतनी उपेक्षावृत्तिसे दूर जानेकी बात है। अनंतकालसे अपेक्षावृत्ति कर-करके तो दुःखी हो रहे हैं। अब तो वैराग्यमें आना है, उदासीनतामें आना है और अपेक्षावृत्तिको तो छोड़ना ही चाहिये। संसारमें छोटेसे छोटा विग्रह है, लडाई है, क्लेश है - वह अपेक्षावृत्तिके कारण ही है। हमारी अपेक्षा Fulfill नहीं होती है, तब हमको गुस्सा आता है। बस! क्लेश यहाँ से चालू होता है। जबकि (वस्तुका स्वरूप) और हमारे सिद्धांत तो ऐसे हैं कि अपेक्षा होवे ही नहीं।

प्रश्न : जहाँ पर हमारा ममत्व है वहाँ Perform कर लें और जहाँ ममत्व नहीं है वहाँ उपेक्षा रखी जाय, क्या यह ठीक है ?

पू. भाईश्री : यह बात तो बिलकुल बराबर नहीं है। ममत्व है वहाँ उदासीनता है ही नहीं, कहीं भी ममत्व है तो, उदासीनता है ही नहीं। क्योंकि ममत्व है वहाँ तो सब करते हैं और ममत्व (नहीं होता है वहाँ) नहीं करते है, दुनिया सारी ऐसा ही करती है, तो उसमें क्या फर्क हुआ ? सब ऐसा ही करते हैं। उसमें क्या फर्क हुआ ? यह तो वास्तवमें जो आत्मकल्याणके मार्गमें आगे बढ़ते हैं, आगे बढ़े हैं, उनको उदासीनता आती है, सांसारिक कार्योंमें उदासीनता आती है, तो वह उदासीनता सही है, होनी चाहिये। ऐसी उदासीनताके कारणसे संसारमें, घरमें क्लेश नहीं होना चाहिये, इसके कारणसे नहीं (होना चाहिये।)

प्रश्न : भाईश्री ! आप जैसे बता रहे हैं वैसा मुमुक्षु आत्मकल्याणके मार्गमें आये और उदासीनता आये तब अगर घरमें क्लेश शुरू हो जाए उसको उदासीनता आयी हो उसके बारेमें कितना भी Explain कर लें, कितना भी समझाये फिर भी वह क्लेश चालू रह जाए तो हमें-मुमुक्षुको क्या करना चाहिये ?

पू. भाईश्री : मुमुक्षुको (ऐसा) उदय जानकर के उससे भी उदासीन रहना। यह भी एक प्रकारका उदय है। हम चाहते हैं कि अगले को समाधान हो जाय, उनको भी शांति हो जाय, लेकिन यह जरूरी नहीं है (कि) हम चाहे वैसा हो ही जाये, नहीं भी हो सकता है, और नहीं होनेमें उसका कारण उसके पास है और उदयका कारण हमारे पास है। क्या है ? हमने पूर्वमें ऐसे कर्म बाँधे हैं वही उदयमें आ रहे हैं तो इसका कारण तो हमारा है और उसका परिणाम नहीं हो रहा है, उसका कारण उसके पास है। हमको हमारे कारण

को देखना है, उसके कारण को नहीं देखना है,- समाधान ऐसे लेना। कभी भी हमारे परिणाम की जुम्मेवारी किसी और की हैं यह बात नहीं लेना है। कभी भी नहीं। हमारे परिणाम हमारे कारणसे हैं, और हमारा उदय भी हमारे कारणसे ही है। हमारे परिणाम भी हमारे कारणसे हैं, हमारा उदय भी हमारे कारणसे है। चाहे वह उदय प्रतिकूल हो या अनुकूल हो।

अब आप कहेंगे कि यह प्रतिकूल उदय है इसलिये हमको सुहाता नहीं है - परन्तु यह बात हमको नहीं होनी चाहिये ? प्रतिकूल उदय और वैराग्यको देनेवाला होता है, क्या ? इस मार्गमें-इस लाईनमें प्रतिकूलताका उदय वह तीरनेके बराबर है और वैराग्यको देता है। यह संसारका स्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है (वहाँ)-और वैराग्य आयेगा, और हमारी उदासीनता बढ़ेगी तो वैसी प्रतिकूलता हमारे लिये प्रतिकूलता नहीं है परन्तु वैसी प्रतिकूलता हमारे लिये एक प्रकारकी अनुकूलता है। इस लाईनमें ज्ञानी होने के लिये ये एक बहुत बढ़िया न्याय है। क्योंकि यह Policy (नीति) ज्ञानियोंकी है, यह नीति ज्ञानियोंकी है, हमको इसका अनुसरण करना है। कोई भी उदय आ जाए, चाहे अनुकूलता हो या प्रतिकूलता-वह तो कहलानेवाली चीज है, वास्तवमें ऐसा कुछ है ही नहीं, वस्तुके स्वरूपमें ऐसा है ही नहीं, लेकिन कोई भी प्रकारकी परिस्थिति बनती हो फिर उसको अनुकूलता कहनेमें आती हो चाहे प्रतिकूलता कहनेमें आती हो, हमको हमारे आत्मकल्याणमें कैसे Turn लेना वह बात, वह टेकनीक (Technique) हमारे पास होनी चाहिये। यह कार्यपद्धति है। ज्ञानियोंकी ऐसी कार्यपद्धति है, मुमुक्षुकी ऐसी कार्यपद्धति होनी चाहिये, कि हम उसको आत्मक ल्याणमें कैसे घटा ले ? यह मोड़ लेना है। फिर आपको कहीं भी तकलीफ होनेवाली नहीं है, हर हालतमें

अपने आप आत्मकल्याणमें अग्रेसर हो करके आप आगे बढ़ते जायेंगे। किसी भी उदयकी चिंता आपको नहीं होगी।

जैसे आपकी कोई निंदा करता है, ठीक है ! और नहीं करने लायक ऐसी निंदा करते है, चलो; ठीक है ! तो आपको बुरा लगेगा; (लेकिन) नहीं लगना चाहिये, क्यों ? आपको बुरा लगेगा लेकिन नहीं लगना चाहिये, क्यों ? कि वह भी एक प्रकारका कर्म का उदय है, जो हमने भूतकालमें कुछ परिणाम उसके लिये किये थे तो यह तो हमारे अपराधके कारणसे आया हुआ उदय है। वह जीव वर्तमानमें अपराध करता है, उसकी वह जाने। अब हमारा जो उदय है वह एक हमारा कर्ज़ था जो कर्ज़ हम चुका रहे हैं; चुकाना है हमको, फिर भी उसमें वह मदद करता है तो उसके प्रति बुरा क्यों मानें ? वह तो मदद करनेवाला है। जैसे आपके कपड़े मैले हुए थे, साबुन, पानी, सोड़ा सब उनका ले करके आया, और धोनेका परिश्रम भी वही करता है और आप बुरा लगाते हो यह कहाँका न्याय है ?-बिलकुल (बुरा) नहीं लगाना चाहिये, भीतरमें खुश-खुश हो जाना। क्या? भले ही बाहरमें कुछ दिखाव करने की जरूरत नहीं है, परन्तु भीतरमें खुश हो जाना, चलो यह ठीक हुआ, यह भी एक ठीक हुआ, यह भी एक ठीक हुआ, आपको कुछ होनेवाला नहीं है और क्या फर्क पड़ता है ? उसके परिणाम उसके पास हैं, उसके शब्द-पुद्गलके परिणाम हवामें चलते हैं। पुद्गलके परिणाम हवामें चलते हैं। उसके परिणाम उसके भाव उसके आत्मामें चलते हैं, हमको तो कोई स्पर्श भी करता नहीं है ! हम हमको-हमारी जातको Involve क्यों करें ? कोई जरूरत नहीं है।

समाधिशतकमें जो पूज्यपादस्वामी आचार्यदेव हैं, वे कहते हैं, कि कोई निंदा करनेवाला, गाली देनेवाला, हमको तो देखता नहीं

है, हमको तो वह (देख नहीं पाता) और मैं तो अरूपी आत्मा हूँ, उसके इन्द्रियज्ञानका तो विषय मैं होता नहीं, किसीके इन्द्रियज्ञानका तो मैं विषय नहीं हो सकता और जो मेरे शरीरको देखता है वह तो मैं हूँ नहीं। जिसको वह देखता है वह मैं नहीं और मुझे तो वह देखता नहीं है। फिर वह मुझको कहता है वह बात कहाँसे आई ? मेरी बात है नहीं, फिर संसारमें कहीं दु:खी होनेका कारण है ही नहीं। संसारमें कोई दु:खका कारण है ही नहीं। क्यों ? कि उसने हमारा कर्ज चुकता कर दिया, कर्ज चुकानेमें उसने मदद कर दी। ठीक बात है। हमारा फर्ज वह था कि हमारा कर्ज हम चलके देनेको जाये कि भाई ! आपने हमको पाँच हजार रुपया दिया था उसका जो Interest होता है, व्याज होता है वह इतना होता है, इसे आप ले लो। इसके बजाय वह लेनेको आ गया; तब प्रामाणिकता तो यह है कि आपको व्याज भी देना चाहिये और आने-जानेका किराया और पेट्रोल के पैसे भी देने चाहिये, और प्रामाणिक होते हुए इतनी Offer कर देनी चाहिये कि आपका समय बिगड़ा इसलिये आप और बोलो तो और भी दे दें (क्योंकि) हमारा समय तो बच गया है। आपके पैसे थे, आपका व्याज था और आपने आनेका परिश्रम किया-परिश्रमका पैसा ले लो, समय बिगड़ा उसका पैसा भी ले लो, आने-जानेका किराया ले लो, वैसे पूरी प्रामाणिकतासे हो जाओ उदार ! ऐसी बात है।

अब बताईये, कौनसे उदयमें आपको तकलीफ होती है ? बताईये! फिर भी कोई उदयमें तकलीफ होती हो तो बता देना। सबका Solution (समाधान) है। एक भी सवाल ऐसा नहीं है कि जिसका इधर जवाब नहीं है। No Question remains unanswered-एक भी (सवाल) नहीं रहेगा । सर्वांग समाधान स्वरूप आत्मा है और आत्मता

प्राप्त करनेका मार्ग भी सर्वांग समाधानरूप ही होता है। एक अंगमें भी असमाधान का सवाल नहीं है। इसलिये ज्ञानीको हर हालतमें समाधि होती है। कृपालुदेव क्या लिखते हैं? ``***अत्र उपाधि है और वह उपाधिमें भी समाधि है***' लिखते हैं कि नहीं लिखते हैं ? जब कि उपाधिमें समाधि यह बात तो परस्पर विरुद्ध है। उपाधि खुद ही दु:खदायक है और समाधि सुखदायक है, लेकिन इधर दोनों बातें हैं इसलिये सामान्य मनुष्यको ज्ञानीका स्वरूप समझमें नहीं आता है कि ये दो परस्पर विरुद्ध बात कैसे चलती है ? जब कि बराबर चलती हैं। पूर्व कर्म अपनी Trackमें चलता है, और आत्मा अपनी Trackमें चलता है, दोनोंकी गाड़ीका Track अलग-अलग है, स्पीड (Speed) अलग-अलग है, और दोनोंका Destination भी अलग-अलग है। (फिर भी) बराबर चलती है और उसीका नाम ही साधकदशा है। साधकदशामें तो दोनों चलनेवाले हैं ही।

प्रश्न : ज्ञानीगुरु से भी समाधान नहीं मिले तब दु:ख नहीं मिटता, क्या करें ?

पू.भाईश्री : वहाँ कोई समाधान असमाधान रहनेवाला है ही नहीं (कृ. देवने आत्मसिद्धिमें) `परम ज्ञान सुख धाम'' ऐसा लिया है। क्या है ? परमज्ञान भी वही और सुखधाम भी वही।

यह बात तो चली रागके विषयमें, कि हमने भूतकालमें बहुत तीव्र राग किया था, इसके कारणसे ही परिभ्रमण किया। हमारे तीव्र रागके परिणाम परिभ्रमणके कारण हुए हैं, (अब नहीं) हो जाये इस विषयमें हमें जागृत रहना है। यह जागृति उदासीनताको लायेगी, यह जागृति नीरसपनाको लायेगी और प्रारंभ की भूमिका के लिए वही यथार्थ परिस्थिति है, जितना राग तीव्र होगा, उतना दु:ख भी तीव्र ही होगा। इस भूमिकामें वह जितना फीका होगा, वह हमारे

लिये अच्छा है। वीतराग तो रागके अभावमें होते हैं, जो भी हमारे वीतराग जिनेन्द्र परमात्मा हुए, उन्होंने रागका अभाव कर दिया लेकिन उसका विज्ञान ऐसा है कि राग फीका हुए बिना अभावको प्राप्त नहीं होगा। अनंतकालसे उसको घूंटा है और उसकी परिणति बनकरके जाम (गाढ़) हो गयी है।

जंग (Rust) लगनेसे जैसे कोई बोल्ट-नट ज़ाम हो जाता है। वैसे तो जंगके परमाणु बहुत छोटे-छोटे होते हैं लेकिन उनमें ताकत इतनी है कि उनको घुमानेवाला चाहे कितनी भी ताकत लगाये, टस से मस नहीं होता है। एक सेन्टीमीटर भी वह खिसकता नहीं, फिर जब वहाँ कोई केमीकल-रसायणकी प्रक्रिया की जाती है तब वह जंग ढीला पड़ता है, फिर वह घूमता है। वरना ताकत लगानेवाले के पास तो बड़े-बड़े साधन हैं, और ताकत भी बहुत लगाते हैं और वे परमाणु भी छोटे हैं फिर भी मचक नहीं देते हैं। (वहाँ) कोई (इसका) Solution लगाते हैं, कोई केमीकल लगाते हैं, तब वैसे उसको कमजोर कर देते हैं। फिर अगर ताकत लगाते हैं तो काम चल जाता है। इस प्रकार कामकी कोई टेकनीक भी होती है।

इधर भी हमको एक व्यवस्थित काम करना है, ऐसे-वैसे नहीं करना है। व्यवस्थित रूपसे, योजनाबद्ध काम करना है और तभी सरलतासे, सुगमतासे यह काम (होगा और) हमेशके लिये Permanent सुखका-सुख-शांतिका जिसका फल है (वह प्राप्त होगा)। हमको कुछ भी करके, या नहीं करके, सुख-शांति ही चाहिये। हमको गलत रास्ता छोड़करके सही रास्ता पकड़ना है, इतनी सी बात है और इसके लिये ज्ञानियोंने लंबी-चौड़ी बात की है।

प्रश्न : मोक्ष पाने के लिये Project बनाना पड़ेगा ?

पू.भाईश्री : हाँ, Project बनाना है, पूर्णताका लक्ष्य बनाना है और परिभ्रमणकी चिंतनासे उसकी प्रक्रिया-Process चालू करनी है, एकदम व्यवस्थित बात है, Scientific बात है, ऐसे-वैसे नहीं चलना (है), मनमानी नहीं करनी है वह तो अभी तक बहुत की, अब नहीं करना है।

अभी तो यह रागके विषयमें पेराग्राफ लिखा है, अब द्वेषके विषयमें लिखते हैं कि हमने द्वेष भी कितना किया है ! जब परिणाममें द्वेष होता है, तो राग होता ही है, दोनों एक ही मोहकी संतान है। कैसे हैं ? मोहकी ही संतान हैं। दोनों साथ ही होते हैं। किसीको अकेला राग होवे और द्वेष नहीं होवे, ऐसा नहीं बन सकता। रागकी पूर्ति नहीं होती, पुष्टि नहीं होती (तब) द्वेषका जन्म हो ही जाता (है)। वह खड़ा ही है, परदेके पीछे वह खड़ा ही है हमारे आत्माने द्वेष भी बहुत किया है, कैसे-कैसे किया है ? जो हमारे परिभ्रमणका कारण हुआ है, इस विषयमें यह दूसरा पेराग्राफ कहेंगे, वह शामके सत्संगमें लेंगे।

जिज्ञासा : दर्शनमोह यथार्थरूपसे मंद होनेके कारणभूत परिभ्रमणकी चिंतना/वेदना उत्पन्न होनी चाहिये - ऐसी समझ होने पर भी ऐसी वेदना दर्शनमोहके बलवानपनेके कारण उत्पन्न नहीं होती हो तो इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये ?

समाधान : सत्पुरुषकी निष्काम भक्तिसे दर्शनमोह मंद होकरके जीव वेदनामें आ सकता है, जिससे उदासीनताके क्रममें प्रवेश होकर आगे बढ़नेका अवकाश प्राप्त होता है अर्थात् मुमुक्षुताकी दृढ़ता प्राप्त होने योग्य भूमिका बनती है। **- पू. भाईश्री**

श्रीमद् राजचंद्र
पत्रांक-१२८

प्रवचन-५
दि-२६-१२-९७
(रात्रि)

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत पत्रांक १२८ चल रहा है। (जीवको) कल्पनासे कितना तीव्र राग होता है कि जिसके प्रति राग हो उसके संयोग बिना जीना नहीं होगा इतनी हद तक राग होता है। कोई - कोई तो उस राग वशात् मृत्युको भी प्राप्त हो जाते हैं, लेकिन वह सिर्फ कल्पना होती है। जीव उसके संयोग बिना ही अनन्तकाल रहनेवाला है और रहेगा भी। उस कल्पनाका विचार करने पर भी इसके फलस्वरूप वैराग्यकी और उदासीनता की उत्पत्ति होती है।

अब द्वेष किस प्रकारसे होता है कि ``**और जिसका मुख किसी कालमें भी न देखूँ....**'' जिसका मुँह देखना भी नहीं चाहता, इसका मतलब कितना द्वेष होगा ? कि उसके सामने मैं देखना तक नहीं

चाहता हूँ। सामने आ जाय तो उसे देखना भी नहीं चाहता हूँ। ``**जिसे किसी कालमें मैं ग्रहण ही न करूँ;**'' स्वीकार नहीं करूँगा, सामनेसे चलकरके गरजसे आयेगा तो भी मैं स्वीकार करनेवाला नहीं हूँ। ``**उसके घर पुत्रके रूपमें, स्त्रीके रूपमें, दासके रूपमें, दासीके रूपमें, नाना जंतुके रूपमें क्यों जन्मा ?**'' ऐसे ही कर्मोंका बंधन होता है कि उसके घर खुदको दीनता करनी पड़े ऐसी परिस्थितिमें जन्म लेता है, द्वेष बहुत किया हो, अधिकारबुद्धिसे द्वेष बहुत किया हो, तो उलटा उसके घर ही दासपने, दासीपने, स्त्रीके रूपमें या उसका कुत्ता होकर आये, घरका चूहा बनकर आ जाता है। द्वेष भावसे ऐसे कर्म बंधते हैं। और जो अभिमान किया हो, द्वेषपूर्वक जो अभिमान किया हो, उसकी जगह खुदको ही दीनता करनेकी बारी आती है। ये एक कुदरती व्यवस्था है। जो लोग बहुत अभिमान करते हैं, उनको ऐसे फल आते हैं कि जिसमें उसको बहुत गरज और बहुत दीनता, या बहुत याचकवृत्तिमें आना पड़े, ऐसी परिस्थिति होती है।

पू. गुरुदेवश्री एक दृष्टांत देते थे कि जो बहुत अभिमान करता हो, बहुत मान करता हो कि जैसे मेरी कीमत सबसे अधिक होनी चाहिये, मुझे सबसे अधिक मान मिलना चाहिए वह जीव एकेन्द्रिय वनस्पतिमें जाता है और मुफ्तमें मूली में बिकता है। मुफ्तमें मूली बिकना इसका मतलब क्या ? कि एक जमानेमें ऐसा था कि कोई सब्जी लेने जाय, और दो-पाँच दस रुपयेकी सब्जी ले-ले तो बहुत खरीदी गिनी जाती थी, (अगर) पाँच-दस रुपयेकी सब्जी खरीदनेके बाद जैसे धनियापत्ती, या मिरची मुफ्तमें मांग लेते हैं वैसे कोई मूली मुफ्तमें माँग लेते थे। एक मूली दो। बच्चा साथमें है उसको मूली खाना है। उस मूलीके अंदर-पूर्वमें अभिमान किया हो वह

भाईसाहेब बैठे होते है और एकेन्द्रियपने वहाँ उसकी स्थिति होती है। सब्जी बेचनेवाला मुफ्त में जैसे दे देता है वैसी अभिमान करनेवालेकी दशा होती है।

``**अर्थात् ऐसे द्वेषसे ऐसे रूपमें जन्म लेना पड़ा** !'' द्वेषके कारण जन्म हुआ ``**और वैसा करनेकी तो इच्छा न थी** !'' बिल्कुल इच्छा नहीं थी। सत्ता भोगनी थी इसके बदले द्वेष करते हुए, द्वेष करते-करते खुद पर कोई सत्ता भोगे ऐसी परिस्थिति आ गई। दूसरेको परतंत्र किया। द्वेषसे क्या करता है ? दूसरेको परतंत्र करनेके परिणाम करता है जब कि खुदको (ही) दीनताकी और उसके आगे परतंत्र होनेकी बारी आती है ``**कहिये, यह स्मरण होने पर इस क्लेशित आत्माके प्रति जुगुप्सा नहीं आती होगी ?**'' खुदको अपनेआप पर धिक्कार आता है, कि इस जीवने बिना सोचे-समझे यानी कि अविचारीपनेसे कैसे-कैसे विचित्र द्वेषके परिणाम किये हैं कि जिसके कारण खुद ही ज्यादा से ज्यादा दु:खी होता आया है। कैसी खुदकी मूर्खता! वास्तवमें तो क्या है ? वह खुदकी (ही) मूर्खता है। जब अभिमान करता है, द्वेष करता है तब मालूम नहीं रहता कि यह वास्तवमें मेरी मूर्खता है। और जब ये समझमें आता है तब खुदको अपनेआप पर घृणा आती है। और वैसी वर्तमान परिस्थिति उसको विशेष वैराग्यका कारण होती है।

इस प्रकारकी परिभ्रमणकी जो चिंतना चलती है वह अंत:करणको शुद्ध करती है। क्या होता है ? इस वैराग्य, इस पश्चाताप, इस चिंतना-वेदनाके परिणामसे अंत:करणकी शुद्धि होती है। अंत:करणकी शुद्धि होती है माने क्या ? कि आत्मकल्याणकी जो भावना है अथवा मोक्ष प्राप्तिकी, संसारसे छूटनेकी जो भावना है, वह अंत:करणसे उत्पन्न होती है। फिर उसमें ऊपर-ऊपरसे इच्छा नहीं रहती। क्योंकि

इसमें ऐसा प्रकार भी है तो सही। कि कुछएक जीवोंको मोक्षमार्गमें आये हुए दूसरे जीवोंको देखकर खुदको भी वैसी इच्छा हो आती है, ऊपर-ऊपरसे इच्छा होती है जब कि अंत:करणकी मलिनता वैसी की वैसी होती है। पूर्वमें किये हुए अपराध के कारणसे जो मलिन परिणति बन गई है वह वैसी की वैसी जमी हुई, जाम हो चुकी है, उसको मिटानेके लिये, उसका निकाल करनेके लिये यह परिभ्रमणकी चिंतना आवश्यक है, इसके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है। अंत:करणकी शुद्धिका इसके अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं है। वरना तो साक्षात् भगवान लेने आ जायेंगे तो भी ना कर देगा।

अन्यमतमें ऐसा एक दृष्टांत है। एक सेठ थे जो भगवानके भक्तरुप प्रसिद्ध थे। उनकी भक्ति तो प्रसिद्ध थी परन्तु अंत:करणकी शुद्धि नहीं थी। वहाँ अन्यमतमें तो ऐसा आता है कि भगवान परीक्षा करने आये कि सेठ! आपने सारी जिंदगी पर्यंत मेरी बहुत भक्ति की है। इसलिये चलिये हमारे विमानमें बैठ जाईये और चलिये वैकुंठमें ! तब सेठ कहने लगते हैं कि आपकी कृपासे पहले तो मुझे कोई संतान नहीं थी बल्कि अब है। वह बेटा अभी बहुत छोटा है। थोड़ा बड़ा हो जाय न ! और वहीवट सँभाल ले फिर मैं आपके साथ चलूंगा। थोड़ी राह देखिये तो ठीक है। लड़का बड़ा होकर वहीवट-कारोबार सँभालने लगा कि भगवान फिरसे वापिस आये कि चलो सेठ ! आपका लड़का तो अब बराबर तैयार हो गया है। तब सेठने कहा कि अभी तो उसकी सगाई की बातें चल रही हैं इसलिये सगाई करके शादी करा लूं तो फिर मेरी जिम्मेदारी खत्म हो जाय, फिर मैं आपके साथ चलूँगा। भगवान ऐसा सोचे कि ठीक है ! एक चक्कर और काट लेंगे। शादी

हो गई बादमें फिरसे भगवान वापिस आये, कहा चलो ! (सेठजी बोले) कि ऐसा है न ! लड़केकी बहुको बच्चा आनेवाला है। जरा पोतेका मुँह देख लूं फिर तो आपके साथ जरूर आनेका भाव है। वापिस दूसरी मुदत डाली। ऐसे ही वादे करते गये कि इतना कर लूं, इतना कर लूं ! इसका सारांश क्या है ? आशय क्या है ? कि जीव शुद्ध अंत:करणसे आत्मक ल्याणके लिये तैयार नहीं होता है तब कुछ न कुछ वादे करता रहता है। इतना एक काम कर लूं, बादमें करूँगा ! एक इतना काम कर लूं बादमें करूँगा । अब उसको मालूम नहीं है कि उदयकी एक के बाद एक ऐसी पूरी कतार खड़ी है। उदय एक के बाद एक, एक के बाद दूसरा ऐसे चालू ही रहनेवाले हैं। ये हो जाय बादमें करूँगा, ये हो जाय बादमें करूँगा। बादमें, बादमें करते-करते आयुष्य पूरा हो जाता है। वह सेठका आयुष्य पूरा हो गया और विष्टामें जाकर कीड़ा बना। भगवानको ऐसा हुआ कि चलो एक बार और कोशिश कर लेते हैं, इसलिये वहाँ पहुँचे और कहा क्यों सेठजी ! अब तो चलना है कि नहीं ? तब क्या जवाब दिया मालूम है ? कि सेठके भवसे तो यहाँ अच्छा है। वहाँसे तो मैं शायद आ भी जाता आपके साथ लेकिन यहाँ से तो निकलनेका मन ही नहीं करता है। ये क्या बताता है ? कि कितनी रुचि होगी ? तब वहाँ गया होगा। फिर तो रुचिके फलमें इतनी रुचि Develop (बढ़) हो जाती है कि आगे उसको खुदको ही `ना करनेका मन हो जाता है। बादमें करूँगा, बादमें करूँगा ऐसा कहनेवाला एक दिन ऐसा कह देगा कि अब नहीं करना है। यह परिस्थिति आती है। वह अरुचिको सूचित करती है। क्या सूचित करती है ? अरुचिको सूचित करती है। आत्मकल्याणकी रुचि नहीं है। और रुचि नहीं है मतलब कि

जरूरत नहीं है यह अपनेआप साबित होता है। संसारकी रुचि बहुत है ऐसा भी उसमेंसे साबित होता है। (जो) ऊपर-ऊपरकी इच्छासे आत्मकल्याण करने की बात करते हैं, परन्तु अंत:करणकी शुद्धि नहीं है उनको प्रामाणिकपने, ईमानदारीसे संसार छोड़ना है यह बात नहीं रहती है। उसे खुदको संसारकी मिठास है ऐसा मानना। अंत:करणकी शुद्धि हुए बिना वास्तवमें जो मोक्ष प्राप्त करनेका ध्येय बाँधना है वह ध्येय नहीं बंधता। भले किसीको विकल्प आये, राग हो, इच्छा हो यह दूसरी बात है (परंतु) जिसको यथार्थरूपसे मोक्षका ध्येय बंधता है, उसका इस भूमिकामें मोक्ष प्रतिका पुरुषार्थ व प्रयत्न जो उठता है उसको संवेग कहा जाता है। उसे संवेगकी उत्पत्ति हुए बिना नहीं रहती। एकदम ज़ोर आता है। क्यों आता है ? आनेका कारण क्या है? कि खुद जहाँ खड़ा है उस भूमिकासे मोक्ष कितना दूर है वह उसको दिखता है कि मुझे अभी बहुत अंतर काटना है और मेरे पास समय बहुत थोड़ा है। ऐसा जब मालूम पड़ता है तब उतावली सहज ही हुए बिना नहीं रहती। अपनेआप उतावली होने लगती है। कई मुमुक्षुओंकी ये फरियाद है कि सब समझते हैं लेकिन फिर भी संवेग नहीं आता है, ज़ोर नहीं आता है इसका क्या करें ? कि पूर्णताके लक्ष्य बगैर, मोक्षके यथार्थ ध्येय बिना संवेगकी यथार्थरुपसे उत्पत्ति नहीं होती। और ऐसा लक्ष्य बाँधनेके लिये अंत:करणकी शुद्धि होना अनिवार्य है। इस तरह इस क्रम से पुरुषार्थकी उपलब्धि है, इसके सिवा पुरुषार्थ नहीं चलता। इच्छा हो तो भी नहीं-नहीं हो सकता, ऐसी व्यवस्था है। अत: इस प्रकारके पत्रोंमें कितनी गहराई है और लिखनेवालेका अनुभव कितना (सूक्ष्म) है यह सोचने जैसा (विषय) है।

जब इस प्रकारसे यथार्थ चिंतना आती है, वैराग्यकी उत्पत्ति,

उदासीनताकी उत्पत्ति होती है तब, `अब इस संसारमें से मुझे कुछ नहीं चाहिये,' अब बाकी बचे हुए समयमें, शेष आयुष्यमें मुझे आत्मकल्याण ही करना है ऐसी तीव्र भावनासे वह ध्येय बाँधता है। भले ही ! ऐसा होनेके पहले अंदरमें द्वंद्व चलें, ऐसा होना संभवित है। अब अगर वैसा द्वंद्व चलता है तो कैसा चलता है ? इसका (हूबहू चितार) आगेके वचनोंमें है।

``**अधिक क्या कहना ? जो जो पूर्वके भावांतरमें भ्रांतिरूपसे भ्रमण किया; उसका स्मरण होने पर अब कैसे जीना यह चिंतना हो पड़ी है।**'' इस जीवने भूतकालमें अनंत बार जन्म-मरण किया, लेकिन अब क्या करना? उसकी एक चिंतना हो पड़ी है - जो परिभ्रमणकी चिंतना है। उस चिंतनाके अंतमें ``**फिर जन्म लेना ही नहीं और फिर ऐसा करना ही नहीं ऐसा दृढ़त्व आत्मामें प्रकाशित होता है।**'' क्या कहा ? इस चिंतनाके फलस्वरूप किसी भी कीमत पर जन्म-मरण नहीं चाहिये, At any cost, कोई भी कीमत चुकानी पड़े, लेकिन अब ऐसे दुःख कभी नहीं भोगने हैं ऐसी एक दृढ़ता (उत्पन्न होती है।) जब दृढ़ मुमुक्षुता उत्पन्न होती है तब ऐसी एक दृढ़ता आत्मामें प्रकाशित होती है ऐसा लिखा है। सिर्फ ऐसा राग होता है, या ऐसी इच्छा होती है, ऐसा नहीं लिखा लेकिन कैसे शब्द लिखे हैं ! इसका अर्थ ये होता है कि वह आत्मा, कि जो परिभ्रमणकी चिंतनामें आता है, वह अंदरसे पुकार करता है कि अब मुझे छूट जाना है। अब मुझे इस परिभ्रमणसे छूट ही जाना है। वह आत्माकी-अंतरात्माकी पुकार है।

कृपालुदेव एक पत्रमें लिखते हैं कि `जिसको छूटना है उसको बाँधने वाला कोई है नहीं'। सब बहाने खुदकी अरुचिके कारण हैं। सब बहाने अपनी भावनाकी क्षतिके कारण हैं, वरना जिसको

छूटना ही है उसको कोई बँधन नहीं कर सकता और जिसको स्वयं बंधना हो उसको कोई छुड़ानेवाला है नहीं (जगतमें)। चाहे कितने भी समर्थ गुरु ही क्यों न हो? समर्थ ज्ञानी क्यों न हो, अरे ! तीर्थंकर हो तो भी छुड़ा नहीं सकते । भूतकालके अनन्त परिभ्रमणमें हमारा अनन्तबार विदेहक्षेत्रमें मनुष्यके रूपमें जन्म हुआ है, इतना ही नहीं बल्कि विदेहक्षेत्रका कोई क्षेत्र बाकी नहीं छोड़ा है, सभी क्षेत्रोंमें अनन्तबार जन्म लिया है, अनन्तबार समवसरणमें तीर्थंकरोंकी दिव्य-ध्वनि सुनी है, परन्तु वेदनापूर्वक अंत:करणकी शुद्धि नहीं की है। इसलिये जो थोड़ा बहुत असर हुआ हो उसको धुल जानेमें देर नहीं लगती। असर धुल जाती है। क्यों ? जिसको स्वयं बंधनमें रहना है उसको छुड़ानेवाले कोई नहीं हैं, और जिसको स्वयं छूटना है उसको बंधन करनेवाला कोई नहीं है।

``**ऐसा दृढ़त्व आत्मामें प्रकाशित होता है। परन्तु कितनी ही निरूपायता है वहाँ क्या करना ?**'' कितनी ही निरुपायता है- उसमें क्या है, कि उस प्रकारके कर्मके उदय सामने हैं, कि एकदम उपेक्षित होकर निकल जाये, ऐसी परिस्थिति नहीं है। यानी कि मुमुक्षु जीव इतना बलवान नहीं होता (है) कि इस भूमिकामें मुनिदीक्षा लेकर, मुनिदीक्षा अंगीकार करके निकल जाय, ऐसा बलवानपना नहीं होता है तब क्या करना ? कि उसको अमुक Adjustment करना पड़ता है। कोई व्यवस्था बिठानी पड़ती है और अपना कार्य आगे बढ़ाता है।

इस विषयमें थोड़ी ज्यादा स्पष्टता करना इस प्रकार आवश्यक है कि ध्येय और सिद्धांतमें छूटछाट नहीं होती। निर्णयमें भी छूटछाट नहीं होती, श्रद्धामें भी छूटछाट नहीं होती। छूटछाट तो Executive Stage(अमलीकरणकी भूमिका) में होती है। आचरण करते वक्त

छूटछाट हो सकती है। जैसे मानो आपका ट्रेन या हवाईजहाज छूट जाय ऐसी समयकी कटोकटी है इसलिये आप तेजीसे पहुँचना चाहते हो, बीचमें ट्राफिक होता है, ट्राफिक सिग्नल भी आते हैं और आपको नहीं रुकना हो तो भी रुकना पड़े या कहीं पर गति कम करनी पड़ती है तब अगर आप वहाँ Adjustment नहीं करते हो और (Accident) अकस्मात कर देते हो तो बीचमें ही रह जाना होता है, या हमेशाके लिये बीचमें ही रह जाना होता है। और निश्चितरूपसे (Definately) आपका ट्रेन या हवाईजहाज छूट ही जायेगा। अत: ट्रेन (गाड़ी) नहीं छूट जाय इसलिये भी आपको गति कम करके रुकना अनिवार्य बन जाता है। वह भी Temporary होता है। आचरणकी भूमिकामें हमेशा मुमुक्षु हो या ज्ञानी हो, वह Adjustment करते हैं परन्तु निर्णयमें फर्क नहीं पड़ता, लक्ष्य नहीं बदलता, श्रद्धा नहीं बदलती और सिद्धांत नहीं बदलते- उसको बराबर कायम रखते हैं कि ऐसा करना मतलब ऐसा ही करना। आचरणमें Adjustment करना पड़ता है।

अत: ``**जो दृढ़ता है उसे पूर्ण करना** !'' दृढ़ता जो है वह वैसी की वैसी रहती है और उसे तो पूर्ण करना ही। जो ध्येय नक्की किया है उसको पूर्ण करना ही, जरूर पूर्ण करना, क्या ? ``**अवश्य पूर्ण करना यही रटन है।**'' माने वह बात निरंतर लक्ष्यमें है। ``**परंतु जो कुछ आड़े आता है उसे एक ओर करना पड़ता है।**'' रास्तेमें पेड़ गिरा हो तो या तो गाड़ी एक ओरसे लेनेके लिये घुमाना पड़े या तो एकबार गाड़ी रोकनी भी पड़े; या तो पेड़को खिसकाओ, एक ओर करो, या आप साईड़में से गाड़ी निकालो। ``**जो कुछ आड़े आता है उसको एक ओर करना पड़ता है अर्थात् खिसकाना पड़ता है।**'' आड़े आये उसको खिसकाना पड़ता

है, उसकी व्यवस्था करनी पड़ती है। ``**और उसमें काल व्यतीत होता है...**'' उसमें (थोड़ा) समय भी लग जाता है ऐसी एक परिस्थिति पैदा हो जाती है। उसमें जो भी समय जाता है वह बहुत कीमती समय जाता है ऐसा लगे बिना नहीं रहता, ऐसा लगे बिना नहीं रहता कि ``**जीवन चला जाता है**,'' मेरे मनुष्यभवका अमूल्य जीवन चला जाता है; बारबार ये मनुष्यभव मिले ऐसी परिस्थिति है नहीं, शायद ही कभी भाग्यवशात् मनुष्यभव मिलता है ऐसी परिस्थिति है, बारबार मिले ऐसी परिस्थिति नहीं है।

जिस मनुष्यभवमें आत्मकल्याण करनेकी बढ़िया से बढ़िया तक है उस मनुष्यभवमें आत्मकल्याणके लिये खुद Negligence (बेदरकारी) में रहा अथवा दूसरे कामकी मुख्यतामें इसको अगर गौण किया तो मनुष्यभव वापिस नहीं मिलेगा ऐसी कुदरती व्यवस्था है। बारबार ऐसा अवसर नहीं मिलता। क्योंकि खुदने इस अवसरका लाभ नहीं उठाया, बल्कि बेदरकार रहा, (अगर) दरकार नहीं की तो फिर (अनंतकाल तक) मनुष्यभव नहीं मिलता है- ऐसी परिस्थिति है। इसलिये ऐसा लगता है कि बहुत महँगा ``**जीवन चला जा रहा है उसे न जाने देना।**'' उसको नहीं जाने देना चाहिये; ये सब मंथन चलता है, निर्धार होनेके वक्त ये सब मंथन चलता है फिर शुद्ध अंत:करणसे ध्येय बंधता है। ``**जब तक यथायोग्य जय न हो तब तक, ऐसी दृढ़ता है, उसका क्या करना ?**'' लेकिन करना क्या ? जीव एक तरफसे पूर्वकर्मके उदयके घेरेमें फसा हुआ है दूसरी तरफसे उसको ऐसी सूझ आयी होती है कि बहुत तेजीसे, शीघ्रतासे, जितनी हो सके उतनी शीघ्रतासे मुझे आत्मकल्याण कर लेना चाहिये।

प्रश्न :- ये लक्ष्य बाँधनेके बाद होनेवाले परिणाम हैं ?

पू. भाईश्री :- नहीं। लक्ष्य तो अब बाँधेगा। लक्ष्य बंधनेके वक्तके

परिणाम हैं। लक्ष्य बँधता है उस वक्त जो मंथन चलता है तब के परिणाम हैं। विचार किया है न। फिर उस विचार का निर्धार होगा। निर्धार जो होगा, बहुत ज़ोरसे होगा। ``**कदापि किसी तरह उसमेंसे कुछ करें तो वैसा स्थान कहाँ है कि जहाँ जाकर रहें ?**'' (कोई) इरादापूर्वक प्रतिकूलता देवे उसको उपसर्ग कहनेमें आता है। कुदरती जो प्रतिकूलता खड़ी होती है उसको परिषह कहनेमें आता है।

``**चाहे जो हो, चाहे जितने दुःख सहो, चाहे जितने परिषह सहन करो, चाहे जितने उपसर्ग सहन करो, चाहे जितनी व्याधियाँ सहन करो**'' शरीररोग आये, शरीर साथ नहीं देवे, चाहे कुछ भी हो आत्मकल्याण करना है करना है और करना ही है। मतलब शरीर प्रतिबंध उसमें गया। ``**चाहे जितनी उपाधियाँ आ पड़ो**'' उपाधियाँ माने जिम्मेदारीयाँ। उन जिम्मेदारियों के बीचमें भी आत्मकल्याण करनेकी दृढ़ता वैसी की वैसी रहती है।

कृपालुदेव व्यापारमें बैठे थे न ! बम्बईसे ये पत्र लिखे हैं। बीस सालकी उम्रमें व्यवसायसे जुड़े थे और जैसे-जैसे आगे बढ़ते गये वैसे-वैसे वैराग्य बढ़ता गया। व्यवसाय-प्रवृत्तिसे छूटनेकी तीव्र भावना थी परंतु उसमें ही दस साल निकल गये। तीस साल की उम्रमें कह दिया था कि अब मेरी परिस्थिति किसी भी हालतमें व्यवसायमें भाग लेनेकी नहीं है, अब मुझे इससे छूटा कर दो, हिसाब-किताब करके मुझे छूटा कर दो। मेरे खाते जो भी कमाई इकट्ठी हुई है वह छोटेभाई के खातेमें जमा कर दो और मेरा खाता सरभर-Nil कर दो। अभी तो तीस सालकी उम्रमें कोई-कोई लोग कमाई करनेकी शुरुआत करते हैं। जब कि वे तीस सालकी उम्रमें निवृत्त होनेकी परिस्थितिमें थे। और २५ सालकी उम्रमें बहुत वैराग्य था।

२४-२५ सालमें काफी वैराग्य था, कैसे भी करके छूट जाऊँ ! कैसे भी छूट जाऊँ ! (ऐसा रहा करता था) परन्तु पूर्वकर्मके उदयका घेरा था कि उसमेंसे छूट नहीं सकते थे (बम्बईसे) साल भरमें एक-दो महिना निवृत्तिके लिये खंभात और चरोतर विस्तारमें चले आते थे। लेकिन बीचमें पोने-दो वर्ष तक बम्बईसे निकल नहीं पाये थे, यानी बीचमें एक साल खाली गया था। फिर दूसरे नौं महिने और निकल गये थे फिर करीब बरसातके दिनोंमें, श्रावण-भादों-आसौज महिनेमें करीब निवृत्ति के लिये निकले हैं। बरसातके दिनोंमें सबको व्यवसायमें धंधा कम होता है और उसको निवृत्तिके दिन गिने जाते हैं। बरसात के दिन-चार महिना धार्मिक दिन गिने जाते हैं। चार महिना सब लोग शांति रखके कुछ न कुछ धर्म साधन करते हैं। बीचमें पोने-दो वर्ष में निवृत्ति नहीं मिल पायी है। पोने-दो सालके बाद बम्बईसे बाहर निकले थे तब जैसे प्रवृत्तिकी पछाड़ / मार लगी हो ऐसी परिस्थिति हुई थी, उसका उन्हें बहुत खेद हो रहा है, यह बात ज्ञानदशाकी है।

``**चाहे तो जीवनकाल एक समय मात्र हो**'' आयुष्य पूरा होनेकी तैयारी दिखती हो, तब संसारके कार्य जल्दी-जल्दी करना या आत्मकल्याण जल्दी-जल्दी कर लेना ? संसारके सभी कार्य प्रारब्ध अनुसार होनेवाले हैं, खुद करेगा तो ही होगा ऐसी भ्रांतिमें रहने जैसा नहीं है। घरका एक-एक सदस्य अपना-अपना प्रारब्ध लेकर आया है। उसका कारण उसके पास है। रोज-बरोज का दाखिला है कि घरमें एक ही बरतनमें बनी खिचड़ी दस लोग खाते हैं, उसमें एक को गेस होता है, और दूसरेको पेट साफ आता है, या एक को उल्टी होगी जब कि दूसरेको कब्ज होती है और तीसरेको टट्टी लग जाती है, जब कि खिचड़ी तो वही की वही

सबने खायी है। सबका अपने-अपने पूर्वकर्म अनुसार चलता है। निमित्त एक जैसा होने पर भी उसके प्रत्याघात एक सरीखे नहीं होते। जब कि यह कुदरती व्यवस्था है, फीर मैं कर दूँ यह बात आयी कहाँसे ? यह सिर्फ अपनी कल्पना है। हम नहीं होंगे तो भी जो चलनेवाला है वही चलेगा। हमारे पिताश्री, दादाजी सब ऐसा ही मानते थे कि हम बैठे हैं तो सब ठीक-ठाक चल रहा है लेकिन उन सबके चले जाने के बाद भी जो भी जिसका ठीक चलनेवाला था तो चला और जिसका नहीं चलनेवाला था तो ठीक नहीं चला। उनके होनेसे भी अगर ठीक नहीं चलनेवाला होता तो ठीक नहीं चलता। उसमें किसीकी (होशियारी) काममें नहीं आती। प्रारब्ध पर विश्वास रखते हुए, और उस विश्वास के कारण उदासीनतामें आनेकी हमारी विचारधारा होनी चाहिये, जिसको सुविचारणा कही जाती है। क्या कहते हैं ? किसी भी हालातमें आत्मकल्याण की बात मुख्य होना और कोई भी परिस्थितिमें उसकी मुख्यतासे विचार करना, उसको ज्ञानीयों सुविचारणा कहते हैं।

चाहे कैसी भी परिस्थिति हो उसमें जो विचारवान जीव है वह ऐसा विचार करता है कि इस परिस्थितिमें मैं अपना आत्मकल्याण कैसे कर सकता हूँ ? ``**जो प्रगटे सुविचारणा तो प्रगटे निजज्ञान**'' आत्मज्ञान होनेका कारण ऐसी सुविचारणा है। खाना है तो भी आत्मार्थके हेतुसे, और उपवास करना है तो भी आत्मार्थके हेतुसे, कमाना है तो भी आत्मार्थके हेतुसे और निवृत्ति लेनी है तो भी आत्मार्थके हेतुसे, मेरा आत्मार्थ कैसे सधे उस एक लक्ष्यसे मुझे जो भी करना है सो करना है वरना नहीं करना है- ऐसी जो विचारणा चलती है, उसको सुविचारणा कहा जाता है। अगर ऐसी सुविचारणा होती है तो उसमेंसे आत्मज्ञान प्रगट होता है। ``**जे ज्ञाने**

क्षय मोह थई पामे पद निर्वाण" और उस आत्मज्ञानसे दर्शनमोह तो खतम हुआ, परन्तु चारित्रमोह भी खतम होकर आखिरमें निर्वाणपदकी प्राप्ति होगी। इस एक पदमें संक्षेपमें सुविचारणासे लेकर निर्वाणपद तक की पूरी (संकलना) रख दी है।

कृपालुदेवका विषयको प्रतिपादन करनेका सामर्थ्य भी असाधारण था। कोई भी विषयको व्यक्त करते थे तो उनका उपयोग चारों तरफ सभी पहलूओं पर फैल जाता था, इतनी गहराईमें जाता था !! विस्तार भी उतना और गहराई भी उतनी ही ! यह उनकी अनेक विशिष्टताओं में से एक विशिष्टता थी। बहुत विशेषताएं थीं। `**धन्य आराधना**' पुस्तक में हमने बहुत सी बातें लिखी हैं। (इस पुस्तककी शुरूआतमें कृपालुदेवका गुणसंकीर्तनरूपमें जो छपा है।) कृपालुदेवका गुण संकीर्तन-गुणोंका कीर्तन किया है। उस संकीर्तनके उपोद्घातमें हमने सब बातोंका उद्धरण किया है कि उनमें कौन-कौनसे गुण थे !!

``**चाहे तो जीवनकाल एक समय मात्र हो, और दुर्निमित्त हो,...**" निमित्त की अनुकूलता न हो, दुष्ट निमित्त हो, प्रतिकूल निमित्त हो ``**परन्तु ऐसा करना ही।**" ऐसा ही करना माने आत्मकल्याण ही करना। जन्म-मरण न हो ऐसा रास्ता पकड़ना ही। ``**तब तक हे जीव ! छुटकारा नहीं है। इस प्रकार नेपथ्यमेंसे उत्तर मिलता है....**" यानी आत्मामेंसे, अंतरात्मामेंसे ऐसी आवाज आती है कि हे जीव ! तुझे यही करना है, दूसरा कुछ तुझे सोचना भी नहीं है। इसमें दूसरा विकल्प नहीं करना रहता है। ``**और वह यथायोग्य लगता है।**" और ऐसी जो अंदरसे आवाज आती है, वह यथायोग्य लगता है, उसमें यथार्थता है। और वही यथार्थता वृद्धिंगत् होकर सम्यक्त्वके रूपमें परिणमित होगी।

मुमुक्षुकी भूमिकाकी यथार्थता और ज्ञानदशाकी भूमिकामें सम्यक्ता ये दोनों एक दूसरेसे अनुसंधान रखते हैं। उस यथार्थताका अनुसंधान सम्यक्त्वके साथ होगा। अत: यथार्थताकी कीमत है। किसकी कीमत है ? यथार्थताकी कीमत है। उन्होंने जो पूरी योजना ली है वह पूरी यथार्थता पर है, वरना तो जीवका दर्शनमोह अयथार्थरूपसे तो अनेक बार मंद हुआ है, लेकिन फिर वापिस तीव्र हो गया है। मंद हुआ है और वापिस तीव्र हुआ है, फिरसे तीव्र हो गया है। चारित्रमोह भी अनन्तबार मंद हुआ है लेकिन वापिस तीव्र हो गया है। क्यों ? कि यथार्थ लाईन (क्रम) हाथमें नहीं आयी इसलिये ऊटपटाँगरूपसे कुछ न कुछ किया है। तत्काल, उस वक्त तो ठीक लगा, लेकिन वापिस परिस्थिति वही की वही रही।

दृष्टांतरूपसे देखें तो मानो कोई एक जीव संप्रदायमें जन्म लेता है। भूतकालमें जैनधर्मकी अनुमोदना कर ली होगी जिसके फलमें जैनधर्ममें जन्म लेता है। फिर वह अपने वीतरागदेवके अलावा किसी अन्यको नहीं मानता। अगर मानता हो तब तो बात दूसरी है और वह तो बहुत ज्यादा खराब है। जो अनन्त संसारी होता है वही उस प्रकारसे मानता है लेकिन मानो कोई नहीं मानता है कि मेरे जिनपरमेश्वर के अलावा कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। वीतरागदेव ही मेरे देव, कोई सरागी देव, मेरे देव नहीं हो सकते। ऐसा जब उसको परिणमन रहता हो तब उसका दर्शनमोह अवश्य घटता है। ठीक वैसे ही कोई पुण्यके योगसे ज्ञानी के समागममें आ जाता है और वहाँ भी उसको ठीक लगता है कि ये ज्ञानीपुरुष हैं। भले ही पहचान न हुई हो लेकिन ये ज्ञानीपुरुष हैं और उनका बहुमान कर्तव्य है, बिना पहचान ही किसीकी संगतसे, किसीकी सोबतसे, कुटुम्बके संगसे या कैसे भी उस प्रकारमें आता है तब

भी उसका दर्शनमोह घटता है। फिर भी वह यथार्थ प्रकारमें अगर नहीं आता है तो वह वापिस कब तीव्र हो जायेगा उसका पता नहीं रहता। एक बार Temporary (कुछ समयके लिये) तो मंद हो जाता है क्योंकि दूसरे-कुदेव आदिको नहीं मानता है, दूसरे अज्ञानियोंको नहीं मानता है, और जब (वीतराग) देवकी भी भक्ति करें, ज्ञानीकी भक्ति करें, पूजा करें तब दर्शनमोह घटता है, बिलकुल नहीं घटता ऐसा नहीं है परन्तु क्रमसे, समझपूर्वक आगे बढ़े तो पूरी लाइन (क्रम) हाथ लग जाय ऐसा है ।दर्शनमोह तीव्र तो नहीं हो परन्तु कटते-कटते, कटते-कटते सम्यक्दर्शन तक पहुँच जाता है। वरना अयथार्थरूपसे मंद हुआ हो तो वापिस तीव्र होते ही सब बेकार हो जाता है, जितनी भी कमाई की हो सब बेकार जाती है / हार जाता है।

प्रश्न :- क्या करनेसे दर्शनमोह बढ़ जाता है ?

पू. भाईश्री :- या तो वापिस कुसंगमें आ जाता है या खुदको अहम्भाव हो जाता है क्योंकि पर्यायबुद्धि तो है ही इसलिये या तो अहम्भाव आ जाता है कि मैंने इतना किया, मैंने इतना किया, मैंने इतना किया, ऐसा अहम्भाव दर्शनमोहको बढ़ाता है। खास करके पर्यायबुद्धिके कारण दर्शनमोह बढ़ता है। या तो कोई कुसंगमें चढ़ जाता है, नहीं करने योग्य व्यक्तियोंका संग कर लेता है और उसका रंग चढ़ जाता है और दर्शनमोह वापिस तीव्र हो जाता है। मैंने इतनी भक्ति की, मैंने इतना बहुमान किया, मैंने इतना समर्पण किया, ये सब गिनने लगता है- गिनते ही बस हो गई बात पूरी ! और वापिस दर्शनमोह तीव्र होने लगता है।

मुमुक्षुकी भूमिकामें भी भूमिका योग्य परिणाम होते हुए भी दर्शनमोह कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे घटता है और कहाँ-कहाँ, कैसे-

कैसे बढ़ जाता है उसके ऊपर एक पूरा लेख (पुस्तिका) (हमने) लिखा है जिसका नाम `**प्रयोजन-सिद्धि**' है (जो कि पुस्तक के पिछले हिस्सेमें छपी है।) पूरा लेख दर्शनमोह पर ही है। मुमुक्षुकी भूमिकामें स्थूलपनेसे लेकर सूक्ष्मपनेतक कैसे-कैसे दर्शनमोह बढ़ता-घटता है, वैसे परिणाम और उसके समाधान साथमें दिये हैं। जिस प्रकार दर्शनमोह बढ़ता है (वह) और उसी प्रकारको तोड़नेके लिये कैसे दर्शनमोह घटता है यह विवरण दिया है। ७० से ७५ Points-मुद्दे लिये हैं। बड़ा लेख बन गया इसलिये फिर छोटी पुस्तिका बना ली। उसको भी देख लेना तो समाधान हो जायेगा। उससे वह भी पता लगेगा कि हमें कौनसी भूमिकामें अभी क्या चल रहा है ? कैसे चलता है ? उसमें हमारी कैसे घट-बढ़ होती है ? वह भी समझमें आ जायेगा। क्योंकि पूरी बात क्रमसे ली है। शुरूआत ऐसे होती है, फिर आगे बढ़ता है, फिर और आगे बढ़ता है, फिर और आगे बढ़ता है तब प्रत्येक भूमिका में वह कैसे भूल करता है ? कि जिससे उसको नुकसान हो जाता है, और वह भूल कैसे मिटे तो नुकसान नहीं हो उस प्रयोजनभूत विषयका पूरा विस्तार लिया है। उसका विस्तार देखना हो और अपनी भूमिकाको Check (जाँच) करना हो तो उस Article (को)-(लेख) जो (पीछे प्रस्तुत है) उसे देख लेना। वह Article (लेख) इस प्रकार लिखा गया है कि हमारे यहाँ भावनगरमें नियमित स्वाध्याय चलता था इसके दौरान एक-एक बातमें ये प्रश्न आता था कि (यहाँ) इस बातका दर्शनमोहके साथ क्या सम्बन्ध है ? कोई भी न्याय चलता हो, किसी भी भूमिकाकी बात चलती हो, तब उसमें दर्शनमोह की परिस्थिति क्या है ? और उस दर्शनमोहमें तीव्रता आये, मंदता आये, तो उसमें कौन-कौनसे प्रकार हैं ? हररोज इसकी चर्चा चलती थी, हमलोग शामको Walking

(घूमने) जाते थे तो उसमें भी यही चर्चा चलती थी। कितने ही पहलूओंसे बात चलती थी। तब सब को ऐसा लगा कि ये तो पूरा का पूरा याद नहीं रह पायेगा, और आप तो बातें करते जाते हो और हमलोग सुनते जाते हैं। फिर बादमें तो इतनी सारी बातें स्मरणमें रहनेवाली हैं नहीं। इसलिये व्यवस्थितरूपसे इस विषय पर कुछ लिखा जाय तो अच्छा है। जो कि दर्शनमोहके विषयमें Permanent (कायमी) विचार करनेका एक साधन हो जायेगा। फिर (हमने) इसके पर लिखना शुरू किया था।

प्रश्न :- ओघसंज्ञासे दर्शनमोह तीव्र होता है ?

पू. भाईश्री :- हाँ ! ओघसंज्ञासे तो तीव्र हो जाता है। मूल्यांकन आये तो मंद होता है। (देखिये) कितना सुंदर लिया ! मुमुक्षुकी भूमिकामें अंतरात्माका ज़ोर कैसा होता है ? मोक्ष (महल) की नीव (Foundation) यहाँ डलती है। हमें अगर बहुत बड़ी इमारत खड़ी करनी है तो उसका Foundation (उसकी नीव) सीमेन्ट-कोंक्रिट से मजबूत होना चाहिये। सिर्फ उसमें पत्थर डाल दिये और चूना डाल दिया ऐसा ही नहीं चलता। उसका पूरा Engineering है। नीवके लिये पूरा सिविल-इन्जिनीयरींग है। और उसके जो तजज्ञ होते हैं उसके पास पूरी तैयारी करानी पड़ती है। फिर Foundation (नीव) बराबर तैयार होता है तब जाके इमारत बहुत सालों तक, १००-२०० सालों तक रहनेवाली है, जब कि यहाँ, तो ये अनन्तकाल तक रहनेवाले निर्वाणपदका Foundation है-तो उस मुमुक्षुकी Foundation की तैयारी कितनी ज़ोरदार होगी, कितनी Powerful होगी!! इसके लिये कृपालुदेवने ये वचन लिखें हैं। और जब भी हम अपने नये मकानकी या मंदिरकी नीवका पहला पत्थर रखतें हैं तब हम उसको Celeberate करते हैं (उत्सव मनाते हैं)। करते

हैं न ! `मंगल शिलान्यास' ऐसे करके आमंत्रण पत्रिकाएं छपवाते हैं कि नहीं ? वैसे ये जो निर्धार होता है कि किसी भी कीमत पर मुझे मेरा आत्मकल्याण कर ही लेना है, और उसमें जो कुछ भी आड़े आयेगा तो मैं उसको एक ओर करके भी मेरा आत्मकल्याण कर लूंगा, अब पीछेहट तो नहीं करुंगा सो नहीं करुंगा। ऐसा जो निर्धार है वह मोक्षमार्गका मंगल शिलान्यास है और जो मुमुक्षुताका मंगल प्रारम्भ है।

हम लोगोंने जब `आत्म जागृति' मासिक शुरु किया था तब पहले अंकमें ही इस विषय पर `मंगल प्रारम्भ' शीर्षकवाला Article (लेख) प्रकाशित हुआ था। पहले और दूसरे अंकमें पूरा Article (लेख) समाप्त हुआ है। उसमें `मंगल प्रारम्भ' ऐसा हमने शीर्षक दिया था। वह मंगल प्रारम्भ किसका ? मुमुक्षुकी भूमिकाका, और मोक्षपदके प्रयाणका मंगल प्रारम्भ, महाप्रयाण है। कैसा प्रयाण है ? महाप्रयाण है। उसका मंगल प्रारम्भ इस प्रकारके निर्णयसे होता है।

कृपालुदेवने बहुत सुंदर चितार रखा है। ऐसा जीव Exactly-ठीक वैसे ही परिणाममें आता है और उसके अंतरात्मा में से ऐसी आवाज आती है कि हे जीव ! इसके बिना तेरा छुटकारा नहीं है। उसको इतना आत्मविश्वास भी आता है कि अब मेरा कल्याण अवश्य हो जायेगा, हो जायेगा और हो ही जायेगा। जिसको अंतरमेंसे अपने कल्याण सम्बन्धित ऐसा आत्मविश्वास आता है वह एक बहुत अच्छी निशानी है, बहुत अच्छा चिन्ह है, और उसकी अनुमोदना करने योग्य है। पू.गुरुदेवश्री तो ऐसा कहते थे कि आत्मकल्याणकी यह एक ऐसी बात है, ऐसी Supreme Quality की बात है कि इसमें अगर उत्साह आये, उमंग आये, और होश आये, उसका

अंदर आत्मासे हकार आये, तो मोक्षकी भनक अंदरसे आने लगती हैं। क्या आने लगता है ? मोक्षकी भनक अंदरसे आने लगती है, और वह एक बहुत बढ़िया लक्षण है।

अत: यहाँ पर नीवका पत्थर रखा, नीव की शिला रखी, अब उसके ऊपर इमारतका काम होगा। मुमुक्षु अपनी भूमिकामें आगे बढ़ेगा, उत्कृष्ट भूमिकामें आनेके पश्चात् मोक्षमार्गमें प्रवेश करेगा। इस प्रकार दर्शनमोहको क्षीण करके मोक्षमार्गमें प्रवेश करनेके बाद चारित्रमोहको भी क्षीण करनेमें नियमसे आगे बढ़ेगा। जिसको मोक्षमार्गका प्रारम्भ होता है उसका तब निर्वाणपदका Registeration, Booking, Advance booking (आरक्षण) हो जाता है। टिकट यहाँ से मिल जाता है। Reservation Ticket (आरक्षण टिकट) यहाँसे मिल जाता है। वह मिलनेकी शक्यता यहाँ पर है लेकिन तैयारी खुदको करनी है। शुद्ध अंत:करणसे खुदको तैयारी करनेकी है। ऐसी एक वर्तमानमें परिस्थिति है। कुदरती जैन कुलमें आना हुआ, आत्मकल्याणकारी ऐसे ज्ञानीपुरुषोंके वचनोंका फुरसद लेकर विचार करनेका योग भी मिला, अब खुद कितना आगे बढ़ता है वह स्वयंके पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। अत: जिसको यह कर लेने जैसा है, किसी भी कीमत पर कर लेने जैसा है ऐसा निर्णय होगा, उसका कार्य होगा, अवश्य ही होगा।

प्रश्न :- मोक्षकी भनक आने के बाद पहचान होती है ?

पू.भाईश्री :- भले पहचान बादमें हो तो भी दिक्कत नहीं है, पहचान तो बादमें होगी, यह तो अभी एकदम शुरूआत की बात है। बहुत शुरू शुरूमें भनक आती है फिर पहचान तो हो जायेगी लेकिन एक बार लाईन हाथमें आ जाय। एक अंक सीखेगा तो, दो-अंक सीखेगा, दो अंक सीखेगा तो तीन-अंक सीख पायेगा, लेकिन

सिर्फ शून्य, शून्य ही किये जाय और एक-अंक लिखना सीखे ही नहीं तो दो-अंक कहाँसे सीख पायेगा। इसके बाद दूसरी थोडी बातें लिखी है जो कलके स्वाध्यायमें लेंगे।

परिणाममें रसवृद्धि होनेका उपाय उस विषयमें वारंवार अनुभव करनेसे होता है। पंचेन्द्रियके विषयमें जिसको जिस विषयमें आसक्ति अथवा सुखबुद्धि होती है, वह वारंवार उस विषयका अनुभव करके रसको वृद्धिगत करता है। यह सबको अनुभवगोचर है। इस सिद्धांत अनुसार ज्ञानी ज्ञानानुभव से ज्ञानरस - आत्मरसकी वृद्धि करते हैं । आत्मार्थीको विभावरस तोड़नेके लिये जो भी विषय हो उस विषयमें पूर्वग्रह विरुद्धके परिणामके द्वारा उलटे प्रयोगसे अंतर-बाह्य प्रयास कर्तव्य है। अशाता वेदनीयके उदयके उदय प्रसंगमें भी देहात्मबुद्धि मंद करनेके लिये उपचारके परिणाम अल्प होने चाहिये।

पू. भाईश्री

श्रीमद् राजचंद्र
पत्रांक-१२८

प्रवचन-६
दि-२७-१२-९७
(सुबह)

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत पत्रांक १२८) अब जहाँसे हमें आगे बढ़ना है स्वाध्यायमें (वहाँसे लें)। ``**क्षण-क्षणमें पलटनेवाली स्वभाववृत्ति नहीं चाहिये।**'' प्रतिक्षण हमारे परिणाम विचित्र प्रकारसे पलटते हैं, चित्रविचित्रता बहुत है। एक ही चीज सुहाती है, वही चीज नहीं सुहाती (है)। जिस पर जीव राग करता है उसीके ऊपर द्वेष करता है। एक ही व्यक्ति हो, एक ही पदार्थ हो लेकिन जीवके परिणामकी विचित्रताका कोई ठिकाना नहीं है। कहते हैं कि अब हमको ऐसा परिणमन नहीं चाहिये। हमको तो शांत, निराकुल, शांतिमय परिणमन चाहिये। जो अमृतकी धारा है, वह सुख-शांतिका अमृत ही हमको पीना है, यह आकुलता-ज़हर हमको नहीं चाहिये।

``**अमुक काल तक शून्यके सिवाय कुछ नहीं चाहिये;...**'' इतनी

आकुलता विकल्पोंकी हो रही है, विकल्पसे शून्य होना चाहते हैं कि एक दफा तो कुछ कालके लिये विकल्पशून्य अवस्था हो जाय यही मेरी भावना है। भावनाका विषय लिया। ``**वह न हो तो अमुक काल तक संतके सिवाय कुछ नहीं चाहिये;...**'' संतका समागम, ज्ञानीपुरुषके समागमके सिवाय हमको (कुछ नहीं चाहिये)। निर्विकल्पदशा होना-ऐसी योग्यता में नहीं आये तो इसके लिये हमको संतसमागम चाहिये।

प्रश्न : अमुक काल माने ?

पू.भाईश्री : अमुक काल माने निर्विकल्प होना है, आखिर में क्या होना है ? निर्विकल्प होना है, स्वरूपमें जम जाना है; इसलिये वह बीच-बीचमें जो आता है वह सादिशांत-अमुक काल पर्यंत ही आता है, अगर वह सत्समागम भी नहीं मिले तो, ``**वह न हो तो अमुक काल तक सत्संगके सिवाय कुछ नहीं चाहिये;....**'' मुमुक्षुका सत्संग, ज्ञानीका-संतका समागम नहीं मिले तो मुमुक्षु-मुमुक्षु के बीचमें सत्संग करना चाहिये। यह सत्संग मुमुक्षु की खुराक है। अगर रोजाना सत्संग नहीं होगा नियमितरूपसे नहीं होगा तो असत्संग से मनुष्य घिरा हुआ है। असत्संगसे उसके परिणाम हैं वह गिर जायेंगे, यह बात बनेगी। इसलिये सत्संग तो हमेशा-हमेशा होना ही चाहिये। अगर सत्संग भी उपलब्ध नहीं हो तो, ``**वह न हो तो आर्याचरण** (**आर्यपुरुषों द्वारा किये गये आचरण**) **के सिवाय कुछ नहीं चाहिये;**'' सत्संग भी नहीं मिले तो कमसे कम इतना विचार रखना कि हमारा जो जीवन है, उपजीवन है उसमें सदाचरण बना रहे वरना परिणमनमें गड़बड़ बहुत होगी और आजकल तो परिस्थिति बहुत-बिलकुल गड़बड़वाली है। यह जो परिणमन है वह गिरने लगेगा। इसलिये उसको सँभालना है, सत्संग नहीं मिले तो

अपने परिणमनमें सावधानी रखनी है। सत्संगमें तो सत्संगकी मदद मिलती है लेकिन सत्संग नहीं होता है तब अपना विचारबल ही काममें आता है, वही आत्मबल है। उससे अपने परिणामको सँभालना हैं।

प्रश्न : संग अनेक प्रकारके हैं ?

पू.भाईश्री : बात ठीक है। संगके अनेक विशेषण हैं - परमसत्संग सत्संग, असत्संग और कुसंग। संगके चार प्रकार हैं। ज्ञानीपुरुषके संगको परमसत्संग कहते हैं, हमसे अधिक गुणवान, (अर्थात्) आगे बढ़े हुए, मुमुक्षुके संगको सत्संग कहते हैं या अपने बराबरीके जो मुमुक्षु हैं उनके संगको भी सत्संग कहते हैं। फिर जो अयोग्यतावाले होते हैं, संसारकी रुचिवाले होते हैं या अपने परिवारके होते हैं, और मित्रमंडलवाले होते हैं, समाजवाले होते हैं, बाजारवाले होते हैं, उनका संग सब असत्संगमें जाता है वह संग - असत्संगमें जाता है और उससे जीव घिरा हुआ है।

प्रश्न : परिवारवालोंके संगको क्या गिनना ?

पू. भाईश्री : परिवारमें आत्मकल्याणकी भावनावाले हो तो सत्संग है और नहीं हो तो असत्संग है। प्राय: - बहुभाग तो असत्संग घरमेंसे ही चालू हो जाता है, बाकी तो (कहीं भी) बाजार जाय, कहीं भी जाय, समाजमें जाय, मित्रमंडलमें जाय, पार्टीमें जाय, सब असत्संग है। सत्संगका अभाव वही असत्संग है। और जो देव-गुरु-शास्त्रका, सत्पुरुषका विरोध करतें हैं और तीव्र दोषके परिणामवाले हैं उनके संगको कुसंग कहते है, शास्त्रमें जितनी सत्संगकी महिमा की है, उतना ही कुसंगका निषेध किया है। सत्संगसे आनंद अमृत मिलता है, कुसंगसे ज़हरसे भी अधिक नुकसानवाली चीज मिलती है, जिसकी उपमा देनेको नहीं मिलती। ज़हरकी उपमा भी कम

पड़ती है। इसलिये कि कोई ज़हर पीता है, (तो) एक दफा मरता है। कुसंगमें जानेवाला, कुसंगके असरमें आनेवालेका अनंत संसार बढ़ जाता है। कितना? अनंत संसार बढ़ जाता है, अनंत जन्म-मरण होता है, वह अनंत संसारी है। इसलिये कुसंगसे सावधान रहना।

प्रश्न : धर्म विरोधीसे मिलने-जुलनेमें कुसंग-दोष लगता है क्या?

पू. भाईश्री : मिलने-जुलनेमें तो क्या है ? उदयवशात् मिलना हो जाता है लेकिन वह मिलना जब अच्छा लगता है-तब उसको संग बोलते हैं, क्या? मिलेंगे तो सही, प्रसंगवशात् मिलना हो जाता है, वह पूर्वकर्मकी व्यवस्था है। ठीक है, हमारा बस नहीं चलता लेकिन हम चलाके मिलनेको जाये या वह हमसे मिले तब अच्छा लगे, तो वह कुसंगकी रुचि है। उसकी असर आये बिना रहेगा नहीं। इसलिये कुसंगसे बचना, वरना वह अनंत जन्म-मरणका कारण है।

प्रश्न : सत्संगकी रुचिमें अन्य संग नहीं रुचे - ऐसा होता है ?

पू.भाईश्री : वह तो है ही। सत्संगकी रुचि, असत्संग और कुसंगकी अरुचिके साथ ही होती है, Automatic (सहज) उसका दूसरा पहलू वही है।

अगर हमारे सदाचरणके परिणाम भी ठीक नहीं रहते हो तो - ``**वह न हो तो जिनभक्तिमें अति शुद्ध भावसे लीनताके सिवाय कुछ नहीं चाहिये;...**'' कृपालुदेवने मार्गदर्शन भी दिया है कि अगर तुम्हारे परिणाम सत्संगके अभावमें अकेले रहनेमें गिरते जा रहे हो, नहीं चाहते हुए भी, तो शुद्ध भावसे माने शुद्ध हेतुसे, शुद्ध हेतु माने अपने सुधारके शुद्ध अभिप्रायसे जिनभक्तिमें लीन (रहना), जिनभक्ति

करना। जिनेन्द्रकी जो भक्ति है उसमें जिनेन्द्र परमात्माका गुणानुवाद है जो एक न्यायसे आत्माका ही गुणानुवाद है। ``**जिन सो ही आत्मा, अन्य होय सो कर्म** (**कर्म कटे**) **जिन प्रवचनसे**'' जिसके प्रवचनसे कर्म कटे ``**वही तत्वज्ञानीका मर्म**'', कृपालुदेवने एक पद बनाया है - जिन सोही, है आत्मा। बनारसीदासजीने भी वह बात लिखी है- ``**घट घट अंतर जिन बसे, घट घट अंतर जैन।**'' घट घट अंतर जिन बसे - सबके अंदरमें जिन परमात्मा बसे हैं, दृष्टि होनी चाहिये। और घट घट अंतर जैन - सभी जैन ही हैं, कोई अन्य-मति है ही नहीं।

हम सोनगढ़ गये First Time, (पहली बार) तब गुरुदेवश्रीके प्रवचन सुननेके टाईम पर पहुँचे थे, प्रवचन पूरा हो गया तो बहिने सब चली जाती थी, भाईलोगमें करीब-करीब, लोग चले जाते थे, दस-पंद्रह आदमी खास-खास Interested थे वह बैठते थे। हम भी बैठे रहे। हम तो कुतूहलवृत्तिसे ही गये थे, परीक्षा दृष्टिसे ही गये थे। कुतूहलवृत्ति माने परीक्षादृष्टिसे गये थे (कि) आध्यात्मकी बाते करतें हैं तो वास्तवमें क्या चीज है ? तब (गुरुदेवने) मुझे देख लिया (कि इसमें एक) अपरिचित आदमी भी है। तो बोले कौन हैं ? कहाँसे आये हैं ? मैं जिसके साथ गया था, उन्होंने जवाब दिया, मैं तो कुछ नहीं बोला, उन्होंने बोला कि मेरे साथ आये हैं, भावनगरसे आये हैं, वैष्णव है लेकिन जैनधर्ममें अच्छी रुचि रखते हैं, संक्षेपमें इतना परिचय दिया, (तो) गुरुदेव क्या बोले ? कि ``**यहाँ कोई जैन भी नहीं, अजैन भी नहीं, सभी आत्मा ही आत्मा हैं**'' (हमने गुरुदेवश्रीके प्रवचनमें) एक आत्मा ही सुना है और भी कई प्रकारके न्याय आते थे, कई प्रकारकी बातें आती थी लेकिन हमारा ध्यान तो एक ही जगह था, और दूसरी जगह हम ज्यादा

ध्यान नहीं देते थे।

ऐसी जिनभक्ति करनी चाहिये और ``**वह न हो तो फिर माँगनेकी इच्छा भी नहीं है।**'' कमसे कम इतना होना चाहिये। इस प्रकार उतरते क्रममें, मुमुक्षुजीवके परिणाम कैसे होने चाहिये वह बात बताई है।

प्रश्न : यहाँ स्वाध्याय (इत्यादि की) बात नहीं करके, जिनभक्तिकी बात कही, इसमें क्या रहस्य है ?

पू. भाईश्री : स्वाध्यायकी जिसकी क्षमता ही नहीं हो, उसको क्या करना? क्योंकि अकेलेमें तो उसके परिणाम सदाचरणरूप रहते नहीं, इधर-उधर चले जाते हैं, ये व्यापार करे, ये करे, ऐसा करे, वैसा करे, परिवारमें ऐसी व्यवस्था करे, बिजनेसमें (Business) ऐसी व्यवस्था करे, वही चलने लगता है। तब उसके लिये जिनभक्ति ठीक है और शास्त्र-स्वाध्यायमें वह बात भी रहती है कि खुद कैसे निश्चय करेगा कि मेरी योग्यतामें कौनसा ग्रंथ मुझे पढ़ने लायक है ? वह खुद कैसे निश्चय करेगा ? फिर जो भी ग्रंथ हाथमें आ जायेगा वह पढ़ लेगा, इससे तो गड़बड़ होनेवाली है। उसको गड़बड़ होनेवाली है, बहुभाग कल्पनामें चढ़ जायेगा। इसलिये सत्शास्त्र है वह कुछ योग्यताके बादमें ही पढ़ना ठीक रहता है, सबके लिये ठीक नहीं है।

अब कुछ सूत्र लिखे हैं। ``**समझमें आये बिना आगम अनर्थकारक हो जाते हैं।**'' देखो ! यही बात लिखी है, आपको प्रश्न उठता है, इसका उत्तर यहाँ आता है। क्या ? पत्रकी रचना कैसी है ! देखो ! इसलिये शास्त्र-स्वाध्यायकी बात उसमें नहीं आयी, शास्त्र-स्वाध्यायकी बात क्यों नहीं आई? कि गम पड़े बिना आगम अनर्थकारक माने नुकसानका कारण होता है। गम माने क्या ? गुरुगम। गम

माने गुरुगम। ज्ञानीपुरुषके पास शास्त्र पढ़नेकी कोई चाबी होती है, वह मिलनी चाहिये। तभी शास्त्र पढ़ना ठीक है। बाकी बुद्धि (होनेसे कोई) शास्त्र पढ़ लेगा तो अर्थ का अनर्थ ही करेगा और शास्त्रमें परस्पर विरुद्ध कथन भी बहुत आते हैं, समाधान कैसे होगा ? और अलग-अलग ज्ञानियोंने अपनी-अपनी शैलीसे अलग शास्त्र लिखे हैं, एक ज्ञानीकी बातसे दूसरे ज्ञानीकी बात मेल नहीं खायेगी तो क्या करेगा ? उलटा और विचारके संकल्प-विकल्पके चक्करमें फँसेगा।

इसलिये गम (समझ) पड़े बिना आगम अनर्थकारक हो जाते हैं। कृपालुदेवने तो मार्गको बहुत सरल किया है कि बस ! तुम सत्संगमें रहो। शास्त्र की बात पहले नहीं की, सत्संग करो बस।

श्रोता : बहिनश्रीके वचनामृतमें भी लिखा है कि सत्पुरुषके चरणमें रहना, महापुरुषके चरित्रका स्मरण करना।

पू. भाईश्री : हाँ, ठीक है। वह कथानुयोग है। महापुरुषका चरित्र माने कथानुयोग। फिर भी ग्रंथ पढ़ना हो तो कथानुयोगका पढ़े, भावनाका पढ़ना हो तो बारह भावनाका पढ़े, वह ठीक है। शुरूआतवाले (के लिए) वह अच्छा है।

प्रश्न : चाबी क्या है ?

पू. भाईश्री : चाबी तो वह है-आत्मकल्याणकी अवगाढ़ भावना। इसके बाद ज्ञानमार्गकी प्राप्ति होती है, शास्त्र है वह ज्ञानमार्ग है। क्या है? ज्ञानमार्ग है, और ऐसी अवगाढ़ दशा हए बिना शास्त्र पढ़नेमें बहुत जोखिम है - बहुत, जोखिम है। ६९३ नंबरका एक पत्र है उसमें वह बात कहते हैं - ज्ञानमार्ग दुराराध्य है - आसान नहीं है। शास्त्र पढ़करके आत्मकल्याण करना वह आसान नहीं है, दुराराध्य है। परमावगाढ़दशा प्राप्त होनेके पहले उसका आराधन करना बहुत कठिन है। परमावगाढ़दशा माने क्या ? आत्मकल्याणकी भावनाकी

परमावगाढ़दशा, वह प्राप्त करनेके पहले, इस मार्गमें गिरनेके बहुत स्थान हैं, गिरनेके बहुत स्थान हैं। सबसे पहले तो संदेह होगा (कि) कहनेवालेने ऐसा क्यों कहा ? कहनेवाले पर शंका हो जायेगी (कि) यह बात हमको बराबर नहीं लगती है। कहनेवाले पर शंका आ जायेगी और विकल्प बढ़ेंगे। समाधान नहीं होगा तो विकल्प बढ़ेंगे। स्वच्छंदता आ जायेगी- एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे भिन्न है, दया करनेका क्या कारण है? पूजा-भक्तिका क्या कारण है ? सत्संग करनेका क्या कारण है ?- जब एक द्रव्य, दूसरे द्रव्यसे भिन्न है; कोई किसीका कुछ कर सकता नहीं है (इस प्रकार से) स्वच्छंदमें चला जायेगा।

प्रश्न : परमअवगाढ़ भावनाका कौनसा Stage है ?

पू.भाईश्री : पहलेसे आत्मभावनामें, तीव्र आत्मभावनामें आना चाहिये और यह Stage की दृष्टिसे देखें तो वेदनासे शुरुआत होती है और खास प्रकारसे तो पूर्णताके लक्ष्यसे शुरूआत होती है। पूर्णताके लक्ष्यके समयमें भावना बहुत अवगाढ़ बनती है, फिर शास्त्र पढ़ें तो- मेरा जो लक्ष्य है उसी लक्ष्यसे यह बात भी लिखी गई है - इस प्रकार बात और इसका आशय पकड़नेमें आयेगा। कहनेवाले का आशय पकड़नेमें आयेगा, नहीं तो तर्क, या ज्यादा उघाड़वाला (क्षयोपशम) हो तो अतिपरिणामीपना, (हो जाता है)। जैसे ही जानकारी हुई कि मानो ज्ञान हो गया। बोलेगा कि आप ऐसा करो, खुदको ज्ञाता-दृष्टा मान लो बस ! ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ज्ञाता दृष्टा हूँ - ज्ञाता दृष्टापना आया नहीं होता और अतिपरिणामीपना हो जाता है, जैसे मानो वैसा परिणमन हो गया ऐसी बात करता है। ये सब प्रकारकी गलतियाँ जीवके बार-बार उस मार्गसे गिरनेका कारण बनती हैं और उसको आगे बढ़ने नहीं देती। इसलिये

परमावगाढ़दशाको प्राप्त किये बिना ज्ञानमार्गसे कोई आत्मकल्याण कर सकता नहीं।

परमावगाढ़दशामें सबसे पहले यह बात आती है, मानो किसीको प्रारंभमें ही परमावगाढ़दशा आयी-मुझको आत्मकल्याण कर लेना (है) बस ! मुझे आत्मकल्याण कर लेना (है)- उसको सबसे पहले यह बात आती है कि, जिन्होंने आत्मकल्याण किया है उनके चरणमें मुझे जाना चाहिये; उसे Very First Thought (सबसे पहला विचार) यही आता है। वह ग्रंथ हाथमें नहीं लेगा। वह कोई प्रयोगमें भी नहीं चढ़ेगा - पहले उसको ऐसा होगा कि मुझे ज्ञानीका संग चाहिये। जिसने रास्ता देखा है उनके साथ मुझे चलना है। माने अपनी मनमानी नहीं करनी है। अवगाढ़दशामें यह बात आती है। फिर ज्ञानी बताते हैं कि तुम्हारे लायक यह ग्रंथ है, तुम्हारे लायक वह ग्रंथ है, तुम इसको पढ़ो, तुम उसको पढ़ो।

कृपालुदेव तो इतने विचक्षण थे कि अन्य मतके ग्रन्थ भी पढ़नेके लिये सूचना करते थे। योगवाशिष्ठ का पहला और तीसरा प्रकरण पढ़ना, बाकीके प्रकरण आपलोगोंको पढ़ने लायक नहीं है। मोक्षमार्गप्रकाशक पढ़ने को (कहते) थे (क्योंकि) उसमें टोडरमलजीसाहबने श्वेताम्बरमतका कड़ा निषेध किया है, श्वेताम्बर और स्थानकवासी दोनोंका निषेध किया, सभी अन्य जैनेतर मतोंका (भी निषेध किया है) श्वेताम्बर, स्थानकवासीको भी जैनेतरमें लिये हैं और दूसरे जैनके इतर मत हैं उनकी भी आलोचना की है, टिप्पणी की है। लिखा है कि कहीं भी समाधान नहीं हो तो ज्ञानीके पाससे समाधान करनेकी बात रखना, लेकिन अपनेआप कहनेवालेका निषेध नहीं करना। कुछ बातें ऐसी होती हैं। क्या है (कि) यह तो जैनके नामसे चलते हैं; वास्तवमें वह जैन नहीं हैं, बहुत Arguments (दलील) दी है, ज्ञानीके

संगमें उसका समाधान करनेकी एक बातको रख लेना। कोई Prejudice (पूर्वाग्रह) में नहीं आना। फिर भी पढ़ना तो सही, उसको पढ़ानेमें कृपालुदेवकी बहुत विचक्षणता थी, (उनको) मालूम था कि हरेक मनुष्यको अपने-अपने संप्रदायका पक्ष होता ही है, जाने-अनजानेमें होता ही है। वह पक्षबुद्धि-संप्रदायबुद्धिमेंसे निकालनेके लिये ऐसे ग्रंथ भी पढ़ाते थे। ऐसे- ऐसे ग्रन्थ भी पढ़ाते थे, (कि जीव) संप्रदायबुद्धिसे छूट जाये। क्या पढ़ना ? क्या नहीं पढ़ना वह ज्ञानीकी सूचना अनुसार होवे तो बराबर है वरना उसमें गिरनेके स्थान बहुत हैं।

प्रश्न : ज्ञानीके मार्गमें चलनेवालेका निश्चय कैसा होता है ?

पू. भाईश्री : ज्ञानीके मार्गमें आनेवालेका निश्चय ऐसा होता है कि ज्ञानी कहे वही बात बराबर है, यह संप्रदायमें गड़बड़ बहुत है और वह तो खुल्ली बात है। किसीको भी समझमें आये ऐसी बात है कि हरेक संप्रदायमें गड़बड़ बहुत चलती है, अभी कोई संप्रदाय ऐसा नहीं चलता (है) कि जिसमें गड़बड नहीं हो, ये समझमें आये ऐसी बात है। इसलिये संप्रदायबुद्धि मंद पड़ जाये, वैसा निश्चय उसको होता है, कि मुझे ज्ञानीके मार्ग पर ही चलना है। फिर उसको कोई तकलीफ-अड़चण नहीं आती।

``**सत्संगके बिना ध्यान तरंगरूप हो जाता है।**'' शास्त्रके बाद ध्यानकी बात ली (है)। साधन है न, शास्त्र-आगम भी एक साधन है, ध्यान करना वह (भी एक) साधन है, दोनों के लिये सूचना की है, कि लेकिन पहले सत्संग करना। सत्संगमें ध्यान किस stage में आता है ? कौनसा ध्यान किस प्रकारका होता है ? ध्यानके प्रकार कितने ? यह सब समझने के बाद, अपनी भूमिका हो तो ही ध्यान करना । ध्यानकी भूमिका हो तो ही ध्यान करना, नहीं तो ध्यानमें तरंग उठेंगे, कई प्रकारके तरंग उठेंगे कि मुझे शांति

हो गई, या (मुझे) प्रकाश दिखाई दिया, मुझे ऐसा हो गया, मुझे तेजकी लकीर दिखी, ऐसे बहुत कुछ आता है, ऐसे बहुत मिलते हैं, क्या ? मुझे इस तरह गोल चक्कर, चक्कर, चक्कर दिखाई देता है - लेकिन ये सब वास्तवमें चक्करमें पड़नेकी बातें हैं। सत्संगके बिना ध्यानमें प्रवेश करना नहीं-सत्संग किया नहीं और सीधे चले विपश्यनामें - अभी तो सत्संग पर्याप्त किया न हो, सत्संग द्वारा बराबर योग्यता आयी न हो और विपश्यना, प्रेक्षा और मद्रासके तरफ कुछ चलता है-तीसरा (प्रकार) चलता है न ? उसकी शिबिर और उसके ध्यान केन्द्र और उसके योगमें चले जाते हैं। परन्तु ज्ञानीपुरुषने इसकी मना की है।

४६६ नंबरका पत्र है, अपने कृपालुदेवके एक खास अनुयायी थे, थोड़ेसे परिचयमें आनेके बाद उनको ऐसा लगा कि हम विपश्यनामें दोड़धाम तो कर आये लेकिन कुछ भूल की हो, ऐसा लगता है। इसलिये Private में (एकांतमें) पूछा कि मैं तो विपश्यनामें गया था, अच्छा भी लगा था, लेकिन आपकी बात से कुछ शंका उद्‌भव होती है। (मैंने कहा कि) कृपालुदेवका ग्रन्थ तो आपने पढ़ा हुआ है, बहुत वांचन किया है, पत्रांक ४६६ में छट्ठा पेराग्राफ है कि ``**जीव अपनी कल्पनासे मान लें...**'' हमने यह लाइन उनको पढ़ाई, कृपालुदेवको मानते थे इसलिये उनको अंतरमें तुरंत (बात) बैठ गई, वरना हमारे कहनेसे तो नहीं बैठती। ``**जीव अपनी कल्पनासे मान लें कि ध्यानसे कल्याण होता है या समाधिसे या योगसे या ऐसे ऐसे प्रकारसे, परन्तु उससे जीवका कुछ कल्याण नहीं होता।**'' स्पष्ट ना दी है; बराबर है ? कृपालुदेवकी यह आज्ञा है और हमें आज्ञाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये, बातको छोड़ दी। (उन्होंने कहा) मैंने तो मेरे नामसे विपश्यना की पुस्तक भी छपवाई है - अब क्या

करना ? (हमने कहा) पश्चाताप करो, प्रायश्चित ले लेना लेकिन अब क्या किया जाय ? ``**जीवका कल्याण होना तो ज्ञानीपुरुषके लक्ष्यमें होता है, और उसे परम सत्संगसे समझा जा सकता है; इसलिये वैसे विकल्प करना छोड़ देना चाहिये।**'' ध्यानके विक ल्पको छोड़ देना बराबर है- जब पेराग्राफ पढ़ते हैं तो उसमेंसे जो बात हमें लागू होती है, उस बात पर हमारा ध्यान जाना चाहिये। (अगर) ऐसी बात पर हमारा ध्यान नहीं जाये और हम ध्यानशिबिर, ध्यानकेन्द्रमें जाते हैं, उसका अर्थ ये होता है कि स्वाध्यायमें हमारा स्वलक्ष्य है ही नहीं, परलक्ष्यसे ही हम स्वाध्याय करते हैं। इसलिये हमारा ध्यान नहीं जाता; नहीं तो स्वलक्ष्यवाले को, खुदको लागू पड़ती हो ऐसी बात पर ध्यान गये बिना नहीं रहता, वह तुरंत ही पकड़ लेता है कि ये मुझपर लागू होता है और मुझे सुधार कर लेना है, यह मेरी गड़बड़ है, उसमें फेरफार कर लेना है। स्वलक्षवाला तुरंत ही अमलीकरणमें आता है, ऐसी बात है। थोड़ा विस्तारसे लेंगे (आजका समय समाप्त होता है)।

अज्ञान और दर्शन परिषहकी तीव्र वेदना अंतःकरणकी शुद्धिका यथार्थ कारण है। वह होने अर्थ बारंबार स्मरणमें लेने योग्य बातें निम्न लिखित है;

*** पूर्वमें किये हुए अपराधोंका शुद्ध अतःकरणसे पश्चाताप।**

*** भावी भयंकर परिभ्रमणकी चिंता।**

*** निज परमात्माका वियोग।**

*** स्वरूपकी शांतिकी अप्राप्तिका खेद।**

*** अशरणभूत और असारभूत पदार्थोंमें यह जीव प्रीति कर रहा है उसका खेद। - पूज्य भाईश्री**

श्रीमद् राजचंद्र
पत्रांक-१२८

प्रवचन-७
दि-२७-१२-९७
(रात्रि)

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत) १२८ पत्र चलता है। किसी भी मनुष्यको मानो इन्कमटेक्सका भी Problem है और ओफिसमें स्टाफके भी छोटे-मोटे Problem हैं। जैसे कोई तनखा ज्यादा माँगता है, कोई Advanceमें लेना चाहता है, फिर काम बराबर नहीं करता है, कोइ देरी से आता है। वह किसको पहले हाथमें लेगा ? ऐसे हमारे जीवनमें problem तो बहुत हैं। पर सबसे बड़ा Problem कौनसा है ? मृत्युका । कोई मरना नहीं चाहता, किसीको मरना नहीं है। और यह एक बार (नहीं) अनंतबार मरनेकी बात है। तो सबसे बड़ा Problem कौनसा हुआ ? कि अनंत मरणका (और) अनंत जन्म का। इसलिये ज्ञानियोंने सबसे पहले बड़े problem को हाथमें लिया है।

१२८ का पत्र क्या सूचित करता है ? कि छोटे-मोटे बहुतसे

Problem हैं जैसे लोग कहते हैं ना ? हमारी ज़िम्मेदारी है क्या करें ? संसारमें भी अनेक कार्योंकी हमारी जिम्मेदारी है। हम गृहस्थी निभाये, हम व्यवसायका (काम) करें या हम यह धर्मकी बात हाथमें लें ? कौनसा करें ? लेकिन तुलनात्मक बुद्धिसे विचार करना है कि हमारे घरके भी Problems हैं, व्यवसायके भी Problems हैं और हमारे जन्म-मरणका भी Problem है। अब (मुख्यता) किसको देना है ? शायद समझानेकी जरूरत नहीं है कि ज्ञानी हैं, वे सबसे अधिक समझदार हैं यह बात इससे सिद्ध होती है। संसारके बुद्धिमान लोगोंसे भी ज्ञानीकी विचारशक्ति - विवेकशक्ति अधिक है वह इससे सिद्ध होता है। ये सबसे बड़ा Problem (समस्या) उन्होंने हाथमें लिया और इसका समाधान ढूँढ़ा, खोजा और उसको पार भी किया। इसलिये यह जो Problem (समस्या) आता है कि हमारे घरेलू जीवनका क्या ? हमारे व्यावसायिक जीवन कार्यका क्या करेंगे ? अगर इसमें हम लगेंगे तो वह कैसे होगा ? ज्ञानियोंने तो बात बहुत सरल कर दी, सुगम कर दी (है)। देखिये यह सब तो तुम्हारे प्रारब्ध आधीन है, तुम्हारी अक्कल, होशियारी, चतुराई, इसमें काम करती है ऐसा मानना वह जोखिममें रहनेके बराबर है। हमारे प्रारब्धके अनुसार यह होनेवाला है और अभी तक हुआ भी ऐसा ही है। अक्कल, होशियारी तो उतनी की उतनी थी फिर भी कभी खोया है, कभी पाया है। तो उसको प्रारब्ध पर छोड़करके जो पुरुषार्थ आधीन कल्याणका, जन्म-मरणके नाशका उपाय है उसको क्यों नहीं करते ? इसलिये Top Priority में इस विषयको रखा है। विचारशक्ति कितनी विशेषरूपसे काम करती है इसका यह सबूत है। इसलिये इस पत्रमें यह विषय लिया है और हमारा जो चलता विषय था उसमें कुछ सूत्र लिखे हैं। उसमें दूसरा सूत्र चल रहा था।

``**सत्संगके बिना ध्यान तरंगरूप हो जाता है।**'' पहले तो ध्यान माने क्या ? एकाग्रता होना उसीका नाम ध्यान है। एक विषयमें एकाग्र हो करके इतना एकाग्र होते हैं कि दूसरे विषयके बारेमें विकल्प भी नहीं चले, चिंता ही नहीं होवे उसे कहते हैं ध्यान। उमास्वामी महाराजने तत्त्वार्थ सूत्रमें-सूत्रजीमें इसका सूत्र इस तरहसे लिखा है ``**एकाग्र चिंता निरोधो ध्यानम्।**'' अब ध्यान है वह चार प्रकारका है। आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। प्रकारांतरसे, रूपस्थ ध्यान, रूपातीत ध्यान भी बोला जाता है। चारमें सब आ जाते हैं। अलग-अलग दृष्टिकोणसे उसका विचार किया गया है।

आर्तध्यान तो सभी संसारी प्राणियोंको होता ही है। आर्तध्यान माने क्या ? शरीरकी चिंता, संयोगकी चिंता, अनुकूलता-प्रतिकूलताकी चिंता, समस्त प्रकारके शुभाशुभ परिणामोंमें जहाँ भी एकाग्रता होती है (वह) सब आर्तध्यानमें जाता है, आर्त माने इच्छा। इच्छाके खिँचावको आर्त कहते हैं। इच्छासे परिणामका जो खिँचाव होता है उसको आर्त कहते हैं। वह सभीको होता है।

कभी-कभी किसी जीवको रौद्रध्यान होता है। ये बहुत बुरा ध्यान है। रौद्रध्यानमें क्या होता है? हिंसानंदी, हिंसा करके आनंद माने वह हिंसानंदी है। चौर्यानंदी, चोरी करके आनंद माने वह चौर्यानंदी है ऐसे तीव्र पापके परिणाममें बहुत आनंद और खुशीका अनुभव होता है उसको कहते हैं रौद्रध्यान। आर्तध्यानसे बहुभाग जीव तिर्यंच गतिमें जाते हैं, और तिर्यंचगतिकी संख्या बहुत बड़ी है। तीनों गतिमें सबसे ज्यादा संख्या तिर्यंचगतिमें होती है। सबसे कम संख्या मनुष्यगति की होती है, इससे ज्यादा नारकी हैं, इससे ज्यादा देव हैं (और) सबसे ज्यादा तिर्यंच हैं। तीनों कालमें ये परिस्थिति

है। आर्तध्यान तिर्यंचगतिका कारण है। रौद्रध्यान है वह नरकगतिका कारण है।

धर्मध्यान है वह मोक्षका कारण है, वह पंचमगति है। संसारकी चारगतियाँ छोड़करके जो मुक्तिमें जाते हैं (वे) धर्मध्यानसे जाते हैं, और धर्मध्यान जब विशेष निर्मल होता है उसक डिग्री बढ़ जाती है तब उसीको शुक्लध्यान बोला जाता है, जाति एक ही है।

प्रश्न : रागका तीव्र रस किसमें जाता है ?

पू.भाईश्री : तीव्र रस आर्तध्यानमें जाता है।

प्रश्न : ध्यान सभी जीवको होता ही है ?

पू.भाईश्री : ध्यान होता ही है। बिना ध्यानका कोई जीव नहीं है। ध्यान चालू ही रहता है या बहुभाग आर्तध्यान चालू रहता है। (प्राय:) (सबको) आर्तध्यान चालू रहता है। ध्यान रहित कोई जीव नहीं है, अब Practically (अनुभवसे) इस विषयका विचार करें तो ध्यान कहाँ लगता है, कि जहाँ सुखबुद्धि होती है, सुखका निश्चय होता है वहाँ ध्यान लग जाता है। चाहे सुख वहाँ हो (या) नहीं हो वह अलग बात है-दूसरी बात है लेकिन जब किसीने निश्चय किया कि मेरा सुख यहाँ है तो उसका ध्यान वहीं रहेगा। Practically (अनुभवसे) देख लीजिये ऐसा होता है की नहीं होता है। अब भगवान कहते हैं कि तेरा सुख तेरे आत्मामें है। इस ग्रंथमें १०८ नंबरका पत्र है, उसमें कृपालुदेवने बार-बार यह बात कही है कि हे जीव ! तुम मत भूलना, (कि) तेरा सुख तेरे आत्मामें है। बाहरमें कहीं तेरा सुख नहीं है और बाहर ढूँढ़नेसे मिलनेवाला भी नहीं है। तो जिसको अपनेमें अपना सुख दिखता है, उसको स्वरूपका ध्यान-आत्माका ध्यान होता है आत्मामें सुख दिखे बिना आत्माका ध्यान होनेवाला नहीं है। चाहे कोई कितना भी मन, वचन, कायासे प्रयोग करे,

आत्मध्यान होनेवाला नहीं है। क्योंकि सुख (तो) देखा नहीं कहाँ से ध्यान होगा ? और जहाँ सुख माना है, निश्चय किया है वहाँ तो परिणाम गये बिना रहेंगे नहीं।

जैसेकी आप विपश्यना ध्यान शिबिर करके आये लेकिन आपकी सुखबुद्धि तो हटी नहीं। संसारके पदार्थोंमेंसे सुखबुद्धि तो हटी नहीं। अनुकूलतामेंसे तो सुखबुद्धि हटी नहीं। एक अनुकूलतामें पाँचों इन्द्रियोंका विषय समाविष्ट है। वह वैसीकी वैसी रहे और आपका आत्मामें ध्यान लग जाये (यह) बात असंभव है। कभी होनेवाला नहीं है। कुछ कृत्रिम प्रयास करके Temporary कषाय मंद होता है, परिणामकी चंचलता कम होती है (लेकिन) इससे कोई Permanent Solution तो नहीं निकलता।

यहाँ कृपालुदेव कहते हैं कि सत्संगमें यह बात समझमें आती है कि दुर्ध्यान क्या है ? अपध्यान क्या है ? और धर्मध्यान क्या चीज है? और कैसे होना चाहिये ? जहाँ तक सत्संगसे यह बात समझमें नहीं आये उसके पहले कोई वैसे ही आँख बंद करके पद्मासनमें बैठ जाये और ध्यान लग जाये ऐसा होनेवाला है ही नहीं। विपश्यना तो दृष्टांत है। हमारे जैन संप्रदायमें भी कई लोग ध्यान कराते हैं, अलग-अलग शिबिरोंमें आश्रमोंमें सुबह, शाम यह ध्यानका पीरियड रखा जाता है। ऐसे कोई ध्यान होनेवाला है ही नहीं। ये समय और शक्तिका दुर्व्यय है। इतना नुकसान तो है ही दूसरा नुकसान जो सबसे बड़ा है वह MisConcept (मिथ्या अभिप्राय) का है। अभिप्रायकी भूल है। जिस विधिसे जो काम करना चाहिये उस विधिसे काम नहीं करना और उस विषयमें दूसरा निश्चय कर लेना, इसको छुड़ाना मुश्किल हो जाता है। लोग ओघसंज्ञामें फँसते हैं, और बहुत ज्यादा काल ओघसंज्ञामें रहनेसे, ओघसंज्ञा इतनी दृढ़

हो जाती है कि सही प्रयोगमें आनेमें बहुत दिक्कत आती है और बहुत कठिनाई हो जाती है।

इसलिये ज्ञानियोंने एक बातकी सूचना की है कि देखिये कोई साधन करनेमें देर-सबेर होवे उसकी कोई आपत्ति नहीं (है) लेकिन जो कुछ भी करना हो वह सही करना। भले ही थोड़ा होवे या देर-सबेर होवे - कम होवे और उसमें कुछ समय लगे, उसमें कोई उलझनमें आनेकी बात नहीं है लेकिन जितना भी करना, थोड़ा भी करना, सही करना चाहिये। वरना परिश्रम और बढ़ जायेगा।

प्रश्न : आत्मामें सुख कैसे लगता है ?

पू. भाईश्री : बहुत अच्छा प्रश्न है। जब सुखसे जीवके परिणाम आकर्षित होते हैं और सुख आत्मामें है ऐसा ज्ञानियोंने बताया, तो लगे कैसे ? क्योंकि वह लगनेकी चीज है। सुख-दुःख विचारकी चीज नहीं है। अनुभव करनेकी चीज है - लगनेकी चीज है। तो सुख लगे कसै ? बात तो ठीक है, क्योंकि बाहरमें तो सुख लगता है इसलिये हमारे परिणाम जाते हैं। आप युक्तिसे उसको सिद्ध कर सकते हैं कि देखो वहाँ सुख नहीं था तो तुमको मिला भी नहीं यानी तृप्ति नहीं हुई। बहुत खाते-खाते भी तुम थक गये। माना था की मिठाई खानेमें सुख है। बात तो ठीक है लेकिन वह बात तो नास्ति की हो गई कि वहाँ सुख नहीं है। चलो ठीक है माना, लेकिन आत्मा में सुख है ऐसा लगे बिना मानेंगे भी कैसे ? सिर्फ कहनेसे कोई माननेवाला नहीं है।

ये आत्मा पक्का बनिया है। पक्का बनिया मतलब क्या है ? कि जो व्यापारी है इसके पास जो ग्राहक आता है वह बोलता है कि बहुत बड़ी खरीद करनी है, और माल आपसे ही लेंगे दूसरेसे नहीं लेंगे और माल भी थोड़ा नहीं लेना है, हमारी जो Purchase

है, बहुत बड़ी है। तभी बेचनेवाले को लगता है कि पैसा लेके आया होगा या उधार लेनेकी बात होगी ? क्या बात होगी ? अगर बड़ी खरीदी होती है, (और) उधार देना हो तो देना या नहीं देना बात सोचनी पड़ती है। फिर अगर वह दिखादे कि देखो मैं तो Hard cash (नकद) लाया हूँ। Currency (रुपये) लेके आया हूँ, चेकसे भी नहीं लेना है। तब तो शंकाका कोई स्थान नहीं है। Competitive rate में माल बेचेगा । क्योंकि पैसा देख लिया, क्या देख लिया ? पैसा देख लिया ।ऐसे व्यापारी लोग जैसे पक्के होते हैं, वैसे आत्मा भी ऐसा ही है। व्यापार के कई Principles इसमें लागू होते हैं।

उसे सुख दिखेगा, तो सुखके पीछे दौड़ेगा और नहीं दिखेगा तो अगर तीर्थंकर भी कहेंगे तो भी नहीं मानेगा। तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनिमें बहुत बार सुना कि सुख तेरे आत्मामें है, लेकिन बात गले नहीं उतरी। सुख देखेगा तब मानेगा। सुख देखनेका एक तरीका है। प्रश्न तो बढ़िया है। किस तरीकेसे हम हमारे आत्मामें सुख को देखें ? बहुत प्रयोजनभूत बात है, सुखका मतलब है न ? मतलबकी बात है - प्रयोजनकी बात है। तब देखिये आपके परिणमनमें कषायके परिणाम होते हैं। शुभाशुभ दोनों प्रकारके कषाय हैं। उनमें आकुलता और दु:ख है जबकि परिणाममें ज्ञान भी परिणमन करता है, जिसमें कषायका अभाव है। परिणाममें दो प्रकार हैं। एक सकषाय परिणाम (यानी) शुभाशुभ (और) एक अकषाय परिणाम, मात्र ज्ञानका। कषायसे भिन्न-शुभाशुभ परिणामसे भिन्न, अकेले ज्ञानको देखनेमें आये तो ज्ञान सुखरूप दिखेगा। जैसे सभी व्यक्तियोंका कोई न कोई रूप होता है और इससे वह पहचाना जाता है, किससे पहचाना जाता है ? उसकी शकलके रूपसे पहचाना जाता है।

ठीक है ? सबकी शकल अलग-अलग है जिससे सब अलग-अलग पहचाने जा सकते हैं। ऐसे ज्ञानका जो रूप है वह सुख है। जैसे रूपमें कुरूपता, सुरूपता, सुंदरता, सुरूपता माने सुंदरता होती है कि नहीं होती है ? ऐसे ही अपना आत्मा, ज्ञानस्वरूपी है, बहुत सुंदर है, कैसा है ? बहुत सुंदर है, क्यों कि ज्ञानका रूप ही सुख है, हमने कभी ज्ञानको, इसका रूप कैसा है ? उस दृष्टिसे-उस उद्देश्यसे देखनेका प्रयास ही नहीं किया है।

अब हमारे ज्ञानमें एक उद्देश्यको धारण करके, हमारा ज्ञान स्वयं अपने रूपको देखने के लिये प्रवृत्ति करे तो ज्ञान अकषाय रूप - माने सुखरूप है ऐसा मालूम पड़ेगा। ये प्रयोगका विषय है। प्रयोग करना होगा, और ये प्रयोग कब होगा ? कि भावभासनके Stage (भूमिका) में। इसके पहले के सब Stage पास करके भावभासनके Stageमें प्रयोग होता है तब ज्ञान सुखरूप दिखता है। सुखरूप दिखता है, इतना ही नहीं, पर्यायमें तो उसका sample है, एक Sample परसे अनंत सुखकी खानका पता लग जाता है, Address मिल जाता है।

जैसे ज़मीनके तजज्ञ होते हैं। क्या कहते हैं उसको ? जीओलोजिस्ट (Geologist) ज़मीनके तजज्ञ होते हैं। सुवर्ण पत्थर आता है, तो उसका वह Analysis करते हैं, कि इसमें सोनेके Particals कितने हैं ? मिट्टीके Particals कितने हैं ? उस परसे उनको सोनेकी खान दिखती है कि अगर इस जगहसे यह पत्थर निकलता है तो यहाँ इतना टन सोना निकलेगा। जब कि सोना तो मिट्टी के साथ मिला हुआ है और खानमें उसके अलग-अलग परमाणु हैं लेकिन उनको हज़ारों टन सोना दिखता है। Sample परसे क्या दिखा ? पूरी खान दिखी। वैसे उस Stageमें आकर के अकेला

ज्ञानको मात्र ज्ञानको देखने के लिये जो काबिल होता है, उसको अनंत सुखकी खान दिखनेमें आती है। और जो लगना होता है, लगता है, वह ज्ञान है, उसको ज्ञान वेदनसे Feel करते हैं। किससे ? ज्ञान वेदनसे। ज्ञानके मुख्य दो धर्म हैं। एक जाननेका और एक अनुभव करनेका-वेदन करनेका। ज्ञान स्वयंका अनुभव करता है, स्वयंका वेदन करता है तो उसमें सुखका, निराकुलताका वेदन लगे बिना नहीं रहेगा।

कृपालुदेवने ७५१ नंबरके पत्रमें भावभासनकी परिभाषा इस प्रकार लिखी है। `**परमार्थकी स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीति**'। अनुभवांश माने लगना। भावभासनमें क्या हुआ ? Sample चख लिया तब सुख लगा। ४७१ और ४७२ नंबरके पत्रमें कृपालुदेवने उसको `सुधारस' बोला है। बीजज्ञान बोलकरके सुधारस बोला है। ``**वह केवलको बीजज्ञानी कहे, निजको अनुभव बतलाई दिये**''। भावभासनमें वह सुखशांतिका Sample अनुभवमें आता है। वहाँ तब अनंत सुखकी खानका पता लग जाता है और परिणाम अपने स्वरूपमें दौड़े- दौड़ लगाने लगते हैं। क्या होता है ? दौड़ लगाने लगते है। फिर परिणाम धीरे-धीरे नहीं चलते। इसलिये जिसको भावभासन होता है उसको बहुत अल्पकालमें स्वानुभव होता है, देर नहीं लगती।

कृपालुदेवने सौभाग्यभाईका इस भावभासनके विषयमें ध्यान खींचा है लेकिन सौभाग्यभाई कृपालुदेव के प्रति प्रेमसमाधिमें आ गये थे। वहाँ से समाधि छूटती नहीं थी क्या ? समाधि छूटती नहीं थी और खुद (कृ. देव) वचनबद्ध थे। उन्होंने Promise दिया था-वचन दिया था कि हम इस भवमें आपको आत्मज्ञानकी प्राप्ति करायेंगे। अगर हमारे निमित्तसे, हमारे हाथसे ऐसा काम हुआ, तो यह भी हमारे लिये बहुत बड़े सौभाग्यकी बात होगी। ऐसा करके लिखा

है और सौभाग्यभाई आगे बढ़ते नहीं थे, (प्रेमभक्तिसे) निकल नहीं रहे थे और (कृ.देव) भावभासनका विषय छेड़ते थे लेकिन उनका ध्यान नहीं जाता था। फिर जब आयुष्यके आखरीके दिन आये तब कुछ Treatment दी और फिर ले गये ईडर। ईडर जाकरके वहाँ उन्होंने बीजज्ञान माने ये भावभासनवाला प्रयोग दिखाया। क्या दिखाया ? प्रयोग दिखाया, देखो ! हमारा ध्यान ऐसे लगता है। ये हमारे ध्यानकी प्रक्रिया है, ऐसे परिणाम अंतर्मुख होते हैं। तुम देखो ! गौर से देखो ! अधिक गौरसे देखो! आपको भी दिखेगा। (सौभाग्यभाई) उदाहरणरूप है, हम भी देख सकते हैं (लेकिन) देखनेके लिये हमारी योग्यता होनी चाहिये।

(ऐसी) योग्यता भावभासनके Stage में आती है इसके पहले अवलोकनका Stage चलता है। लगातार अवलोकन चले इसके लिये पूर्णताका लक्ष्य होना आवश्यक है, इसके बिना नहीं चल सकता। पूर्णताका लक्ष्य, शुद्ध अंत:करणके बिना कभी होता नहीं और परिभ्रमणकी वेदना-चिंतनाके बिना अंत:करणकी शुद्धि कभी होती नहीं। इसलिये इस क्रमसे जो आगे बढ़ते हैं उनको अपना सुख अपने स्वरूपमें दिखाई देता है। अनुभवांशसे माने लगता है। Feeling stage में वह अनुभव होता है और भावभासन आ जाता है। परिणाम दौड़ने लगेगा, दौड़ लगायेगा। ये बात बिना सत्संग और बिना परम सत्संगके संभव नहीं है। इसलिये इसके पहले कोई ध्यान करता है वह हवाईकिला है। हवाईकिला ! वह हवामें चलता है, कुछ होनेवाला नहीं है। उसको तरंग बोला है, तरंगी लोग होते हैं न ! नये-नये तरंग उठाते हैं। वास्तविकताका उसमें अभाव है। उसमें बिलकुल वास्तविकता नहीं है।

``**संतके बिना अंतकी बातका अंत नहीं पाया जाता**'' अंत माने

भवअंत, अंत माने भवभ्रमणका अंत। इसका जो विषय है वह संतके बिना इसका कोई अंत माने छूटनेकी मूल बात समझमें नहीं आती है। इसका मतलब यह हुआ कि जिसने ऐसा अनुभव किया है, भवभ्रमणके अंतके विषयमें जो अनुभवी है, वही इस बातको बतायेगा, बता सकेगा। दूसरेको इस बातका पता नहीं है तो कहाँसे बतायेगा ? इसलिये ज्ञानीके बिना ये भवभ्रमणका अंत आनेकी बात समझमें नहीं आती और प्रयोगमें भी नहीं आती।

``**लोकसंज्ञासे लोकाग्रमें नहीं पहुँचा जाता।**'' लोकाग्र माने सिद्धालय। लोकमें अग्र-सबसे ऊपर क्या है ? सिद्धशिला जहाँ सभी सिद्ध बिराजमान हैं। अनंत सिद्ध बिराजमान हैं। अपनी जो भूगोल है उसमें ऊपर सिद्धशिला है। अगर हमको निर्वाणपदकी प्राप्ति करनी है, सिद्धपदकी प्राप्ति करनी है तो हमें लोकसंज्ञाका त्याग करना होगा। लोकसंज्ञा माने क्या ? लोगोंकी दृष्टिसे हमे चलना-हमें कार्य करना, वरना लोगोंको क्या लगेगा ? ऐसा करेंगे तो लोगोंको क्या लगेगा ? ऐसा करेंगे तो लोगोंको-समाजको क्या लगेगा ? ये समाजके दृष्टिकोणसे जो जीव जीवन जीते हैं वे कभी अपना आत्मकल्याण नहीं कर सकते क्योंकि आत्मकल्याण करना यह सामाजिक विषय नहीं है। एक Special line (खास बात) है। जैसे किसीको Heart attack आता है तो क्या समाजवाले से पूछता है ? (कि) मुझे क्या करना चाहिये ? वह Cardiologist के पास चला जायेगा। और उसमें भी जो अच्छेसे - अच्छा होगा उसके पास जायेगा। तब समाजकी मीटिंग नहीं बुलानी पड़ेगी (कि) देखिये हमको कभी-कभी इधर दर्द होता है आप बताइये, कि आप लोगों की दृष्टिसे हमको क्या करना चाहिये ? (ऐसा करने जायेगा तो) मर जायेगा क्योंकि ये तो इसके Expert लोगोंकी एक Special line है।

ऐसे आत्मकल्याण करना वह भी इसके जो Expert होते हैं उसकी लाइन है वह समाज की Line थोड़ी न है ? हम कहते हैं कि देखो हमें धर्म करना है परन्तु समाजवालोंकी नजरमें हमारी जो इज्जत है, वह वैसीकी वैसी बनी रहनी चाहिये। उसका आत्मकल्याण कभी नहीं होता । कहाँ तक ये लोकसंज्ञा काम करती है ? कि जिस Group में अपनी जान पहचान होती है, वह जान पहचानवालोंकी नजरमें हमको हमारा जो स्थान है उसको बनाये रखना है। उसको टिकाये रखना है ये भी लोकसंज्ञा है। फिर चाहे वह पाँच-पच्चीस लोग हो, या कितने भी ज्यादा अधिकसे अधिक संख्यावाले हों। ये लोकसंज्ञा है।

दूसरे लोगोंकी नजरमें हमारा दिखाव क्या होगा ? यह लोकसंज्ञा है। दृष्टांत लेना हो तो बहुत अच्छा दृष्टांत है, कि जैसे हम अभी बोल रहे हैं, आप लोग सुन रहे हैं, तो आपकी नजरमें मेरी अच्छी से अच्छी Impression बननी चाहिये, ऐसा भाव अगर मुझे हो तो यह मेरी लोकसंज्ञा हो गयी। मैं इतना अच्छा बोलूँ, इतनी अच्छी बातें बताऊँ, इतनी Style से बताऊँ तो मेरी इज्जत बढ़े । ओरेटरी (Oratory) होती है न ? वक्तृत्वकला, बात करनेकी भी कला होती है। सबको अच्छा लगे और सबकी नजरमें मेरा दिखाव अच्छा हो जाये ऐसा हो तो यह हो गई लोकसंज्ञा। जो आदमी सामाजिक Platform पर खड़ा रहता है उसको लोकसंज्ञा होनेके Chances ज्यादा हैं। ये Platform है, गद्दी पर बैठना एक Platform है। धार्मिक Platform पर बैठकर लोकसंज्ञासे बचना बहुत कठिन बात है - बहुत कठिन बात है। समझदार लोग तो बैठते ही नहीं हैं और यह उसकी समझदारी है। ठीक ! कई समझदार लोग तो बैठते ही नहीं। कहेंगे कि हमको नहीं बैठना है, क्या ? लोकसंज्ञामें आ

जायेंगे, तो जिसकी Capacity है वह बैठे और लोकसंज्ञामें नहीं आये उसका वहाँ बैठनेका काम है बाकी दूसरेका काम है ही नहीं। लोकसंज्ञावालेका कभी आत्मकल्याण नहीं होता है।

कृपालुदेवका यह सैद्धांतिक सूत्र है, बहुत गहरे अनुभवसे यह बात लिखी है। इतने समर्थ पुरुष थे - बहुत बड़ी Capacity थी। महाज्ञानी थे ऐसा कह सकते हैं। फिर भी अपने विषयमें लिखते हैं कि हम उपदेशक बनके किसीको उपदेश नहीं देते हैं। कोई धर्मके जिज्ञासु जीव आते हैं तो उनको दिशा सूचन कर देते हैं कि धर्म तो इस तरहसे होता है। अगर कोई पात्र जीव आता है, तो उसको इसका जो राज़ है-Secret है वह बता देते हैं कि हमने ऐसे पाया है। आपकी योग्यता है इसलिये बात बता दी है। पुरुषार्थ करोगे तो आपका काम हो जायेगा। उपदेशक बनके ऐसा करो, वैसा करो, ऐसा नहीं करना, वैसा करना, ये हमारा काम नहीं है। वे कभी Platform पर नहीं आये। यद्यपि समाजके कुछ लोग उनके पीछे लगे थे तो धर्मकी बातें करते थे लेकिन उपदेशक बनके नहीं करते थे। बहुत सभान दशामें बात करते थे। ऐसे जो ज्ञानी हैं वे बचते हैं। उनको लोकसंज्ञा नहीं है बाकी तो लोकसंज्ञामें जो आते हैं उनको पता ही नहीं चलता (कि) हम लोकसंज्ञामें आ गये। क्या करें बेचारे ? और आत्मकल्याणसे वंचित रह जाते हैं। इसलिये सभी मुमुक्षुओंको खुदका आत्मकल्याण करनेमें समाजका विचार बीचमें नहीं लाना है। जैसे भी अपना आत्मकल्याण हो जाय, (सबसे बड़ी समस्या है जन्म-मरणके नाशकी) वही कर लेना है। यह रोग मिटानेमें हमको समाजकी बात बीचमें लानी नहीं है।

खास करके हिन्दीभाषी प्रांतोंमेंसे लोग आते थे, हमारे सोनगढ़ में कई लोग आते थे, बहुत लोग आते थे, वे लोग ऐसी बात

करते थे कि हमको समाज के बीचमें रहना पड़ता है। क्या करें ? हमारा समाज ऐसा है, हमारा समाज ऐसा है, यह बात तो कोई सुननेको तैयार ही नहीं है, क्या करें ? जैसे शुभभावसे धर्म नहीं होता, तो हमारे समाजमें (ये बात) कोई सुननेको तैयार ही नहीं है। भक्ति, पूजा ये (सब) तो होना ही चाहिये। यह बात तो सबसे पहले होनी चाहिये और हमारे यहाँ तो भगवानके दर्शन किये बिना कोई मुँहको पानी भी नहीं लगाते। मुँहको पानीका ग्लास भी नहीं लगायेंगे। शुभभाव से धर्म होता नहीं और ऐसे समाजके साथ रहना है, क्या करें ? अगर समाजके साथ ही रहना है तो भवभ्रमण करो और समाजके साथ नहीं रहना है तो लोकाग्रमें-सिद्धालयमें चले जाओ, वहाँ कोई समाज नहीं है। वहाँ पर सिद्ध परमात्मा हैं। अपने-अपने ध्यानमें बैठे हैं, अब आपको किसके बीचमें रहना है ? सिद्धोंके बीचमें रहना है ? या संसारीयोंके बीचमें रहना है ? ये निर्णय आपको करना है। लेकिन समाजमें हमारी (जो) इज्जत-आबरू है इसका क्या ? तब नाक आड़े आती है। अरे ! तुम तीन लोकके नाथ हो ! इसके आगे समाजकी इज्जत-आबरु कुछ नहीं है। नीच पदमें उच्च पद क्यों मानते हो ? भीतरमें तुम खुद परमात्मा हो। सबसे बड़ा पद खुद परमात्माका है। समाजकी इज्जतवाला पद इतना बड़ा नहीं है। समाजकी इज्जतमें आपको सैकड़ों-हजारों लोग जानते हैं कि ये बहुत अच्छे हैं, और अगर इस मार्गमें आप लायक हो गये, पात्र हो गये तो अनंत सिद्ध परमात्माके ज्ञानमें आयेगा कि यह जीव अल्पकालमें सिद्ध बनेगा। कितने सिद्ध हैं ? अनंत सिद्ध परमात्माके ज्ञानमें आपकी स्थिति मालूम पड़ेगी। अब देखिये ! आपको किसकी नजरमें आपकी इज्जत बढ़ानी है ? Comparision (तुलना) कर लीजिये। सैकड़ों-हजारों संसारी लोगों

के बीचमें अपनी इज्जत रखनी है ? या अनंत सिद्धोंके ज्ञानमें अपनी इज्जत रखनी है। किसके ज्ञानमें रखनी है ? विवेक करना चाहिये।

कृपालुदेवने इसीलिये तो लोकसंज्ञाके परिणामोंको कालकूट जहर बताया है। क्या बताया है ? कालकूट झहर बताया है। इसलिये कालकूट जहर बताया है क्योंकि जिसको लोकसंज्ञा होती है उसको कभी परलक्ष्य मिटता नहीं है। उसको कभी स्वलक्ष्य नहीं होता है। और इस परलक्ष्यसे कितना भी धर्मसाधन करो, सब (निष्फल) जायेगा, वह सबको (निष्फल) कर देगा। कोई सफलता नहीं मिलेगी, इसलिये उसको कालकूट जहर बताया है।

१९४ नंबरके पत्रमें जो चार प्रतिबंध लिखे हैं; समाज प्रतिबंध, कुटुंब प्रतिबंध, शरीर प्रतिबंध और संकल्प-विकल्प प्रतिबंध। इसमें सबसे बड़ा समाज प्रतिबंध दिखाया है कि समाजको खुश रखकरके आत्मकल्याण कोइ करना चाहेगा लेकिन उसको कल्याण करनेमें सबसे बड़ा प्रतिबंध वह है। ऐसे कुटुंब परिवारको, सबको राजी (खुश) करके मैं अपना आत्मकल्याण करूँ यह कभी होनेवाला है ही नहीं। क्योंकि एक कुटुंबमें जितने भी व्यक्ति हो सबके विचारका मेल हो यह संभव नहीं है। मिले तो ठीक है, नहीं मिले तो भी अपना आत्मकल्याण तो करना ही चाहिये। कुटुम्बमें बड़ी तकलीफ होती है। क्योंकि समाजके लोगोंके प्रति इतना स्नेह नहीं होता है। जबकि परिवारके सदस्योंके प्रति स्नेह होता है - प्रेम होता है। अध्यात्मकी भाषा में उसको राग कहते हैं, क्या कहते हैं ? राग कहते हैं, और वह नाजुक परिस्थिति है कि जिसके साथ प्रेम हो-स्नेह हो उसको नाराज कैसे करे ? वह माने नहीं अब करे क्या ? यह परिस्थिति - थोड़ी कठिनाई पैदा करनेवाली तो अवश्य है ही लेकिन जिसको आत्मकल्याण करना ही है वह ऐसा सोचता है

कि ये मेरे परिवारवाले, जिनके प्रति मेरा स्नेह है वे तो इस भव पर्यंत हैं, ऐसा स्नेह मैं अनंत कुटुंबके साथ करते-करते इधर आया हैं। अभी कुछ कालके बाद ये भी समाप्त हो जायेगा। यह बात भी समाप्त होनेवाली है ही। स्नेह है इसका मतलब यह नहीं है कि अनंतकाल साथमें रहेंगे और हमारा स्नेह भी रहेगा यह बननेवाला नहीं है। जब बात कुछ काल तककी है, सीमित है तो उसको Weight (वजन) नहीं देना चाहिये, कि हम अपने-हमारे आत्मकल्याणको छोड़ दें। ऐसा नहीं होना चाहिये। कुछ Adjustment करके रास्ता निकलता हो तो निकाल देना चाहिये। नहीं निकले तो हमारी भावना आगे बढ़नी चाहिये। हमारी भावनामें कमजोरी नहीं आनी चाहिये। तभी आत्मकल्याण होता है वरना कुटुंब प्रतिबंधसे दुर्गति की प्राप्ति होती है। ये कुटुंब स्नेहका फल क्या है ? दुर्गति है। सुगति नहीं है।

कृपालुदेवका ५१० नंबरका पत्र है कि दूसरे जीवमें पितापना-पुत्रपना करके इस जीवने अपना बुरा करनेमें कोई कसर नहीं रखी। बुरा करनेमें कोइ कमी नहीं रखी। यह बहुत Normal दिखता है। कुटुंबप्रेममें कोई Abnormal (विशेष) अपराध नहीं दिखता। Normal Position दिखती है लेकिन वही दुर्गतिका कारण है। हमें दीर्घदृष्टिसे विचार करना है कि यह कुटुंब स्नेहके बहाने हम दुर्गतिमें जायेंगे तो क्या हमारे कुटुंबवाले इस दु:खसे छुड़ानेको आयेंगे ? ये कोई आनेवाले नहीं हैं, हमको अकेलेको भोगना है। यह दु:ख हमको अकेलेको भोगना पड़ेगा इसलिये हमको सावधान होना है और इसकी एक मर्यादा कर लेनी है, मर्यादामें चलना। एक साथ उसको उड़ा नहीं सकते लेकिन मर्यादा तो अवश्य करनी चाहिये और उस मर्यादामें हमारा जो रस है, तीव्र रस है वह फीका हो जाना चाहिये। यह

मर्यादाका सबसे पहला कदम है। यह रस फीका होनेसे हमारी प्रवृत्ति भी सीमित हो जायेगी। हमारे परिणाम भी सीमित हो जायेंगे। और हम दुर्गतिका रास्ता छोड़करके मुक्तिका मार्ग जो पंचमगति है उसमें प्रयाण करनेके लिये तैयार हो जायेंगे। इसलिये यह विवेक करना है कि हमें लोकसंज्ञामें भी नहीं रहना है और कुटुंब प्रतिबंधमें भी नहीं रहना है। फिर बात आयेगी शरीर प्रतिबंधकी। शरीरकी शाता-अशाताको मुख्य करके भी हमको आत्मकल्याण को गौण करना नहीं है।

``**लोकत्यागके बिना वैराग्य यथायोग्य पाना दुर्लभ है।**'' क्या कहते हैं ? लोकत्यागमें असत्संगका त्याग है और कुसंगका त्याग है। जिसको आत्मकल्याणके वशात् उदासीनता आती है, उसको लोगोंका परिचय अच्छा नहीं लगता। (उसे लगता है) क्या है इसमें ? क्या रखा है ? कुछ लोग इकट्ठे होते हैं। खान-पीन और Entertainment की कुछ प्रक्रिया चलती है तो उसमें Artificial आनंद लेनेके सिवाय उसमें कुछ दम है ही नहीं। क्या है इसमें ? क्या रखा है ? सही आनंद तो वहाँ है ही नहीं और कृत्रिम आनंद कैसे जुटाना उसका प्रयास होता है, तब लोग एक दूसरेको ज्यादा मिलते हैं, कोई मित्र-मंडल बनाते हैं, कोई क्लब बनाते हैं, कोई सोसायटी बनाते हैं, कोई ऐसे करते हैं, कोई वैसे मिलते-जुलते रहते हैं, उसमें कुछ दम नहीं है। अपना मनुष्य जीवन बहुत मूल्यवान है। ऐसे Artificial आनंदमें हमको हमारा समय गँवाना-खोना यह विवेक पूर्ण बात नहीं है। इसलिये जिसको आत्मकल्याण करना है, उसको लोक त्यागका भाव आता है। लोक में संसारी लोग दूसरे लोगोंका सम्बन्ध बढ़ानेका प्रयास करते हैं। जैसे कि जितना भी अपना सम्बन्ध ज्यादा उतना अच्छा, Contacts सबसे ज्यादा होना

चाहिये। मोक्षमार्गमें चलनेवाले इसको काटते जाते हैं, जो भी सम्बन्ध है उसको समाप्त करते जाते हैं। हमको हमारा काम करना है उसमें हमको समय गँवाना पोसाता नहीं है। इसलिये अपना समय बचानेके लिये और परिणाममें दुर्गुण नहीं आयें इससे बचनेके लिये सद्‌गुणकी प्राप्तिके लिये हो सके उतने Contacts को कम करना चाहिये।

प्रश्न : दोनों प्रकारके सम्बन्ध निभाये तो क्या ?

पू. भाईश्री : दो बाजूके Contacts एकसाथ नहीं रहते। स्वरूपमें ध्यान लगाना है तो बाहरके जो सम्बन्ध हैं, उस Attachments को Detachment करना होगा, तभी तो काम होगा उसके बिना नहीं होगा। इसलिये यह परिस्थिति पैदा होती है।

``**यह कुछ झूठा है ? क्या ?**'' बराबर नहीं है क्या ? ऐसा प्रश्न उठाया है। ``**परिभ्रमण किया तो किया अब उसका प्रत्याख्यान लें तो?**'' यानी निर्णय करना चाहिये कि अब मुझे परिभ्रमण करना नहीं है, ऐसा निर्धार, दृढ़ निर्धार करना चाहिये तो इसके लिये प्रत्याख्यान ले सकते हैं क्या ? हाँ, ले सकते हैं। अगर हम चाहें तो ले सकते हैं ये कोई ऐसी कठिन बात नहीं है कि हम परिभ्रमण तोड़नेके लिये तैयार न हो सकें ऐसी कोई बात है ही नहीं। जब भी चाहें-आज चाहें, अभी चाहें तो ये ले सकते है इसमें कोई बड़ी बात है ही नहीं, क्योंकि बाहरका तो कोई फेरफार करना नहीं है। ग्रहण-त्याग का कोई विषय नहीं है। अपने परिणामोंमें - भावोंमें एक निश्चय करना है, निर्धार करना है कि हमको Decision लेना है, कि यही करना है- दूसरा कुछ नहीं करना है। अगर यह ले सकते हैं तो ``**यह भी आश्चर्यकारक है।** क्या लिखा है ? परिभ्रमण नहीं करना है ऐसा निश्चय दूसरे लोग तो नहीं कर सकते,

लेकिन जो इस विचारधारामें आते हैं, उसमें भी सब नहीं कर सकते। उसमें भी बहुत अल्पमात्रामें, कुछ एक जीव ऐसे निर्धारमें आते हैं। इसलिये यह निश्चय करनेवाला भी अगर कोई होता है, तो उसको एक आश्चर्यकी घटना समझना। ``**यह भी आश्चर्यकारक है।**'' ऐसा क्यों लिखा है ? कि जीव परिभ्रमणकी चिंतनामें आत्माकी चिंतना करता है और जब आत्माकी चिंता होती है तब पर पदार्थकी चिंतना, शरीरकी चिंतना, कुटुंबकी चिंतना, भविष्यकी चिंतना वर्तमानकी चिंतना छूटती है और इस चिंताको छोड़े बिना - अनात्माकी चिंताको छोड़े बिना आत्माकी चिंता हो सकती नहीं। परिभ्रमणके विषयमें आत्माकी चिंता नहीं क्यों होती ? कि अनात्माकी चिंतामें इतना रुक गया है कि आत्माकी चिंता पैदा ही नहीं होती है। फिर भी अगर कोई नहीं रुका और इस चिंतनामें आया तो एक आश्चर्यकारक घटना है ऐसा लेना है इसलिये लिखा कि यह भी एक आश्चर्यकारक है।

``**अभी इतना ही**'' इससे ज्यादा नहीं कहेंगे। आश्चर्यकारक है ऐसा कहकरके बातको समाप्त कर दिया है कि अब तो इतनी ही बात है, ``**फिर सुयोगसे मिलेंगे।**'' मिलेंगे तब मिलेंगे। अब इस बातको यहाँ ही समाप्त करते हैं ``**यही विज्ञापन**'' है। लिखनेवाले ``**रायचन्दके यथायोग्य**'' ऐसे करके पत्रको समाप्त किया है। तो इस तरहसे सारे पत्रका सारांश यह है कि सबसे बड़ी समस्या जो परिभ्रमण की है उसको अग्रताक्रममें मुख्य करके इसी कार्यमें हमको लगना चाहिये। यही एक परम विवेक है वरना अविवेकसे तो उसका फल भोगना अनिवार्य हो जायेगा ! (पत्र यहाँ समाप्त होता है।)

श्रीमद् राजचंद्र
पत्रांक-२६४

राळज, भादों सुदी ८, १९४७

हे प्रभु ! हे प्रभु ! शुं कहुं, दीनानाथ दयाळ।
हुं तो दोष अनंतनुं, भाजन छुं करुणाळ ।। १।।
शुद्ध भाव मुजमां नथी, नथी सर्व तुजरूप।
नथी लघुता के दीनता, शुं कहुं परमस्वरूप ?।। २।।
नथी आज्ञा गुरुदेवनी, अचळ करी उरमांहीं।
आप तणो विश्वास दृढ, ने परमादर नाहीं ।। ३।।
जोग नथी सत्संगनो, नथी सत्सेवा जोग।
केवळ अर्पणता नथी, नथी आश्रय अनुयोग ।। ४।।
`हुं पामर शुं करी शकुं ?' एवो नथी विवेक।
चरण शरण धीरज नथी, मरण सुधीनी छेक ।। ५।।
अचिंत्य तुज माहात्म्यनो, नथी प्रफुल्लित भाव।
अंश न एके स्नेहनो, न मळे परम प्रभाव ।। ६।।
अचळरूप आसक्ति नहि, नहीं विरहनो ताप।
कथा अलभ तुज प्रेमनी, नहि तेनो परिताप ।। ७।।
भक्तिमार्ग प्रवेश नहि, नहीं भजन दृढ भान।
समज नहीं निज धर्मनी, नहि शुभ देशे स्थान ।। ८।।
काळदोष कळिथी थयो, नहि मर्यादाधर्म।
तोय नहीं व्याकुळता, जुओ प्रभु मुज कर्म ।। ९।।

सेवाने प्रतिकूळ जे, ते बंधन नथी त्याग।
देहेन्द्रिय माने नहीं, करे बाह्य पर राग ।। १०।।
तुज वियोग स्फुरतो नथी, वचन नयन यम नाहीं।
नहि उदास अनभक्तथी, तेम गृहादिक मांहीं ।। ११।।
अहंभावथी रहित नहि, स्वधर्म संचय नाहीं।
नथी निवृत्ति निर्मळपणे, अन्य धर्मनी कांई ।। १२।।
एम अनन्त प्रकारथी, साधन रहित हुंय।
नहीं एक सद्गुण पण, मुख बतावुं शुंय ? ।। १३।।
केवळ करुणामूर्ति छो, दीनबन्धु दीननाथ।
पापी परम अनाथ छुं, ग्रहो प्रभुजी हाथ ।। १४।।
अनन्त काळथी आथडयो, विना भान भगवान।
सेव्या नहि गुरु सन्तने, मूक्युं नहि अभिमान ।। १५।।
सन्त चरण आश्रय विना, साधन कर्या अनेक।
पार न तेथी पामियो, ऊग्यो न अंश विवेक ।। १६।।
सहु साधन बन्धन थयां, रह्यो न कोई उपाय।
सत् साधन समज्यो नहीं, त्यां बंधन शुं जाय ? ।। १७।
प्रभु प्रभु लय लागी नहीं, पडयो न सद्गुरु पाय।
दीठा नहि निज दोष तो, तरीए कोण उपाय ? ।। १८।।
अधमाधम अधिको पतित, सकल जगतमां हुंय।
ए निश्चय आव्या विना, साधन करशे शुंय ? ।। १९।।
पडी पडी तुज पदपंकजे, फरी फरी मागुं ए ज।
सद्गुरु सन्त स्वरूप तुज, ए दृढता करी दे ज ।। २०।

श्रीमद् राजचंद्र
पत्रांक-२६४

प्रवचन-८
दि-१२-४-९८

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्रांक २६४ (बीस दोहे)

कृपालुदेव करीब भादों-आसौज में निवृत्तिक्षेत्रमें आते थे। २४ वें वर्षमें भी वहाँ खंभात की तरफ आये होंगे। खंभातके बगलमें राळज नामसे एक गाँव है। उस गाँवमें थोड़े दिन रहे थे। वहाँ उन्होंने ये सभी पद भादों महिनेमें बनाये हैं, पत्रांक : २६४, २६५, २६६, २६७ - ये चार पद वहाँ राळजमें बनाये हैं। उसमें ये बीस दोहे जो बनाये हैं वे श्री लल्लुजी (महाराज)के लिये बनाये हैं। यह एक उस भूमिकाका विषय है कि जिस भूमिकामें कोई भी जीव आत्मकल्याणकी सूझमें नहीं आ पाता, कैसे मुझे आत्मकल्याण करना चाहिये उसकी जब सूझ नहीं पड़ती है तब उस जीवको ऐसी इच्छा रखनी चाहिए कि मुझे कोई सत्पुरुषका शरण प्राप्त

हो जाय तो अच्छा; कि जो मुझे मेरे अकल्याण-कल्याणके मामलेमें एक Guardian (गार्डीयन) बनके मुझे मार्ग पर ले चले। ऐसी भावना और ऐसी इच्छा उत्पन्न हो उस भावके अर्थरूप ये पद बनाकर श्री लल्लुजी(महाराज) को भेजे हैं।

``**हे प्रभु ! हे प्रभु ! शुं कहुं, दीनानाथ दयाळ।**'' हे प्रभु ! यहाँ पर खास करके मुमुक्षु अपने श्रीगुरु अथवा सत्पुरुषको "प्रभु" कहकर संबोधन करता है, कि मैं आपको क्या बताऊँ ? आप तो मेरे देव हैं। आप मेरे नाथ हैं, और दयालु हैं !

``**हुं तो दोष अनंतनुं, भाजन छुं करुणाळ।**'' मैं तो अनंत दोषोंका भाजन हूँ। भाजन अर्थात् पात्र। हे करुणानिधान ! मुझमें अनंत दोष भरे पड़े हैं। इस प्रकार श्रीगुरुको करुणानिधान भी कहते हैं। `करुणाळ' भी कहते हैं। आपकी करुणा तो बेहद है, और मेरा आत्मकल्याण हो उस हेतुसे मैं यह निवेदन करता हूँ कि मुझमें तो इतने दोष है कि जिनका कोई अंत नहीं है। अनंत दोष है इसका मतलब कि दोषका कोई हिसाब नहीं इतने दोष हैं। कब परिणाम कहाँ जाते हैं, कितने नीचे गिर जाते हैं, उस पर मेरा कोई Control - काबू नहीं रह पाता। कभी भी कैसे भी भाव हो जाते हैं। और इससे ये फलित होता है कि मुझमें इतने दोष हैं कि जिसका कोई हिसाब नहीं। कितने कहूँ ? `शुं कहूँ' अर्थात् कितने कहूँ ? ऐसा कहकर भी जितना कह सके उतने यहाँ पर कहे हैं।

प्रश्न :- Control (काबू) क्यों नहीं रह पाता ?

पू. भाईश्री :- Control (काबू) कैसे रह सकता है ? अनंत कालसे परिभ्रमण कर रहा है। आत्मकल्याणकी सूझ नहीं है। कौनसी विधिसे, कौनसी पद्धतिसे आत्मकल्याण हो सकता है इसकी खबर

है नहीं, तो परिणामका ठिकाना रहेगा कैसे ? पूर्वमें अनेक प्रकारके विभाव भाव किये हैं, अनेक प्रकारके अपराध किये हैं, उस वक्त जो कर्मबंध किया है वही उदयमें वापिस आते हैं। उदयमें आते हैं तब खुदका काबू नहीं होनेसे उदयमें जुड़ जाता है और वापिस परिणाम बिगाड़ता है। इसी प्रकारसे परिस्थिति चालू ही चालू रहती है। फिर वापिस परिणाम बिगाड़े और नया कर्म बाँधे, वापिस उसका उदय आये तब और नये कर्मबँध करता है। ऐसा करते-करते जीव नीचे गिरता हुआ अधोगति में चला जाता है। खुदका Control - काबू अपने ऊपर है नहीं और रहता भी नहीं है अब करना क्या ? उसकी समझ नहीं पड़ती हो तब उसे ऐसी इच्छा रखनी चाहिये कि मैं किसी सत्पुरुषके चरणमें चला जाऊँ और उनकी आज्ञामें रहकर मेरा आत्मकल्याण, जैसे वे कहैं उस प्रकारसे करूँ क्योंकि कैसे करना यह तो मुझे पता है नहीं। पहले अपनी स्थितिको उनके आगे खुल्ली कर देता है कि मेरी इतनी खराब स्थिति है, अब आपको जैसा ठीक लगे वैसा मुझे बताइये अथवा मुझे चाहे जैसे भी ट्रीटमेन्ट देना चाहो मैं इसके लिये तैयार हूँ।

``**शुद्ध भाव मुजमां नथी, नथी सर्व तुजरूप।**'' मेरा अंत:करण शुद्ध नहीं है परन्तु बहुत मलिन है, और आप ही मेरे सर्वस्व हैं ऐसा भी मुझे लगा नहीं है।

``**नथी लघुता के दीनता,**'' मेरेमें नम्रता भी नहीं है और जो दीनता आनी चाहिये अर्थात् मेरे कल्याणके लिये मुझे जो याचना करनी चाहिए ऐसे भाव भी मेरे पास नहीं हैं। दीन मनुष्य क्या करता है ? याचना करता है। दीनभावसे याचना करता है। यहाँ पर लौकिक दीनताकी बात नहीं लेनी है। यहाँ पर तो खुदके आत्मकल्याणके लिये जो याचना करनी चाहिये, वैसी याचना के

योग्य भी मेरे परिणाम नहीं रहे हैं, ऐसा कहते हैं। इस प्रकारका अहम्भाव मुझमें चल रहा है। "**शुं कहुं परमस्वरूप ?**" आप तो परमस्वरूप हो मैं आपको क्या बताऊँ ?

"**नथी आज्ञा गुरुदेवनी, अचळ करी उरमांहीं;**" श्रीगुरुकी आज्ञाको सर पर उठा लेना, उसमेंसे चलित नहीं होना, आज्ञाधीन होकर ही रहना, आज्ञाका पालन करनेमें विचलित नहीं होना, ऐसा भी मेरे हृदयमें नहीं है। 'उर' माने हृदय। ऐसा मेरे हृदयमें नहीं है। ऊपर-ऊपरसे सब कहता हूँ कि आप मेरे गुरु हैं, मुझे आपकी आज्ञामें रहना चाहिये, मुझे आपकी आज्ञाका पालन करना चाहिये, (वास्तवमें) आज्ञांकितपने मुझे प्रवर्तन करना चाहिये- ऐसा भी मेरे हृदयमें नहीं है। ये सब ऊपर-ऊपरका राग है, परन्तु मेरा हृदय नहीं है ऐसा कहते हैं। क्या कहते हैं ? "**नथी आज्ञा गुरुदेवनी अचळ करी उरमांहीं;**" अगर आपकी आज्ञा हृदयसे ग्रहण की होती तो परिणाममें बराबर मक्कमता रहती, तो आज्ञाभंग नहीं होता, लेकिन ऐसा मैंने नक्की नहीं किया है।

"**आप तणो विश्वास दृढ, ने परमादर नाहीं।**" आपके प्रति दृढ़ विश्वास नहीं है। कब कैसे विकल्प आ जाते हैं, तो कब कैसी शंका हो जाती है। कभी कुछ हो जाता है तो कभी कुछ और हो जाता है मतलब कि आदरबुद्धि तो पूरी है नहीं तभी तो ऐसा होता है, अर्थात् परम आदर जो आना चाहिये वह आदर भी मेरेमें अभी आया नहीं है।

"**जोग नथी सत्संगनो, नथी सत्सेवा जोग;**" सत्संगका मुझे योग नहीं है, और सत्पुरुषकी सेवा करनेका योग भी मुझे है नहीं। सत्संगका योग नहीं है और सेवा करनेका योग भी मुझे नहीं है।

"**केवळ अर्पणता नथी;**" और जो सर्वार्पणता आनी चाहिये, केवळ

अर्पणता मतलब जो अर्पणता आनी चाहिये वैसी अर्पणता मुझमें अभी आयी नहीं है। अभी भी शरीर, कुटुम्ब, परिवार, व्यवहार, इन सभीकी इतनी मुख्यता रहती है कि आप गौण हो जाते हो; जबकि आपकी मुख्यतामें वह सब गौण हो जाना चाहिये, वैसा नहीं होता है। ``**नथी आश्रय अनुयोग।**'' और आपश्रीके आश्रयमें रहना चाहिये, अनुसरण करना चाहिये, आपश्रीके समागममें रहकर, आश्रय में रहकर अनुसरण करना चाहिये ऐसा भी अनुयोग मुझमें नहीं है। अनुसरण करने जैसा योग, इसे अनुयोग कहनेमें आता है। कृपाणुदेव `योग' शब्दका प्रयोग बहुतसे भिन्न-भिन्न प्रकारसे करते है। उनका शब्द-संयोजन करनेका जो क्षयोपशम है इसमें यह प्रकार विशेष है।

``**हुं पामर शुं करी शकुं ? एवो नथी विवेक।**'' और इतना भी विवेक नहीं है कि मैं पामर क्या कर सकता हूँ ? फिर भी जैसे मैं कुछ हूँ, मैं समझता हूँ, मैं कुछ कर सकता हूँ, कुछ करता हूँ इस प्रकार का अहम्भाव मुझे रहता है, जब कि ऐसा विवेक मुझे नहीं आता है कि मैं तो पामर हूँ क्या कर सकूंगा ? मेरी तो कोई शक्ति है नहीं ! परिणाम चाहे कभी भी, कहीं पर भी चले जाते हैं इसका मतलब क्या है कि मैं कुछ कर सकूँ ऐसी योग्यता मुझमें है ही नहीं फिर भी मैं पामर हूँ ऐसा मुझे लगता नहीं है। जिस पामरताकी मुझे Feeling (अनुभव) होनी चाहिये उसकी Feeling (अनुभव) ही नहीं है।

अगर वैसे देखा जाय तो ये बीस दोहे ऐसे हैं कि जीव वेदनामें नहीं आया हो परन्तु इस निवेदनके स्थानमें खुदको रख दे, Involve (शामिल) कर ले अपने आपको तो वेदना चालू हो जाय, ये दोहे इस प्रकारके भाववाही हैं। अपने आपको इसमें शामिल कर देना चाहिये। इस जगह मैं ही हूँ ऐसा खुदको स्पष्टरूपसे लगे तो

वेदना चालू हो जाय। खुद अपनेको पामररूप Feel करे, अनुभव करे कि मैं क्या कर सकता हूँ ? कितनी पामरता है मुझमें ! एक छोटे से छोटे संयोगमें मैं पूरा का पूरा बिक जाता हूँ। जैसे ही कोई सामान्य पदार्थ देखा कि मुझे इष्ट-अनिष्टपना हो जाता है। जैसे कोई भी चीजका संयोग हुआ कि इष्ट-अनिष्टपना हो जाता है। अरे ! खानेमें एक सब्जी भी बराबर न बनी हो तो अनिष्टपना हो जाता है, और अगर थोड़ा बराबर बन जाय तो इष्टपना हो जाता है। कितनी अधिक पामरता है ! क्या ?

प्रश्न :- आपश्रीने इस पदका अपनेमें प्रयोग किया है ?

पू. भाईश्री :- हाँ ! शुरू-शुरूमें हम ये बहुत लेते थे, बहुत-बहुत लेते थे। कंठस्थ हो गया था। खास करके जब सुबह सत्संगके लिये जाते थे तब घरसे सुबह सवा चार बजे निकलते थे, पाँच बजे पहुँचते थे। हमारे सत्संगका समय रहता था पाँच बजेसे सात बजे तकका। सात, कभी साड़े सात, ऐसे दो-ढाई घंटे सत्संग करते थे। उन दिनों सुबह चार बजे उठ जाते थे। कुल्ला आदि कर लेते थे, फिर वहाँ से सत्संग करनेके बाद चाय-पानी पीकर निकलते थे। घर पर तो सिर्फ मुँह साफ कर लेते थे फिर निकल जाते थे। साधन कुछ भी नहीं था, उस जमानेमें हमारे पास साईकिल भी नहीं थी। पैदल ही जाते थे करीब दो मील जितना। दो मील माने कितने किलोमीटर हुए ? करीब तीन किलोमीटर, सुबह पैंतालीस मिनिट जितना हुआ। हमलोग अभी जो पैंतालीस मिनिट चलते है न बस करीब इतना ही, सिटीमेंसे चलते हुए इधर आते थे तो करीब पैंतालीस मिनिट लगते थे। तब उस पैंतालीस मिनिट के दौरान हमारे (अन्दर) यही (बीस दोहे) चलते थे, और काफी वेदना भी रहती थी। अगर खुदको शामिल करें तो तो वेदना आ ही

जाये ऐसी ये बात है। ऐसी ये रचना कृपालुदेवने ज्ञानदशामें की है। ज्ञानदशामें लिखा है। जैसे वहाँ बैठकर लिखी हो-वेदनाकी भूमिकामें बैठकर लिखी हो, वैसी बातें इसमें आ गयी हैं।

प्रश्न :- लिखते समय वेदनामें आकर लिखा है ?

पू. भाईश्री :- नहीं, उस वक्त उन्हें वेदना आयी है सो बात तो नहीं है, लेकिन रचना करनेका उनका सामर्थ्य ऐसा है कि जिस भूमिकाकी रचना करते हैं, Exact कर पाते हैं। क्योंकि भूतकालका अनुभव तो स्मरणमें होता है न ! रहता है कि नहीं रहता है ?

प्रश्न :- जोग नथी सत्संगनो...(उसमें क्या कहना चाहते हैं ?)

पू. भाईश्री :- योग प्राप्त हो फिर भी हमने उस योगमेंसे कितना ग्रहण किया ? अगर ग्रहण किया, तब तो योग है वरना तो योग भी अयोग ही है न ! और नहीं तो क्या ? ``**विषय कषाय सहित जे, रह्या मतिना योग; परिणामनी विषमता तेने योग अयोग।**'' सत्संग होते हुए भी मैंने ऐसे विषम परिणाम किये कि उस विषम परिणाम के कारण योग भी अयोगके बराबर साबित हुआ, सिद्ध हुआ। इसलिये अगर (हमें) सत्संगका योग हो तो उसमेंसे ग्रहण करना चाहिये। नहीं ग्रहण करते हैं इसका कारण परिणामकी विषमता है इसलिये ग्रहण नहीं होता है। इसका खेद होना चाहिये कि योग होने पर भी मेरी स्थिति अयोग बराबर ही रही, (तो) उसका भी खेद होना चाहिये। सौ रुपये के नोटको अचानक आग लग जाय तो एक सेकन्डमें जल के राख हो जाय, तो कैसा लगे ? उसमें तो सो रुपयेका पुण्य जलता है, जब कि ये तो अमूल्य सत्संग योग है और अमूल्य पुण्यका योग है। अगर उसमेंसे कुछ नहीं लिया तो उस नोटको भी जला दिया और राख कर दिया ही

समझो, (क्योंकि) हाथमें क्या आया ? कि राख आई। पुण्य पूरे हो गये, पुण्य जल गये और हाथ लगी राख। वहाँ सौ रुपयेकी नोट अगर एक सेकेन्डमें जल जाय तो दुःख होता है जब कि यहाँ पर जिससे किसीका मूल्य अधिक नहीं हो सकता ऐसी (सत्संगरुपी) नोट को बैठे-बैठे जला रहा है। बैठ-बैठे जानबूझकर दियासलाई लगाकर जला रहा है।

``**चरण शरण धीरज नथी, मरण सुधीनी छेक।**'' मृत्यु पर्यंत जो चरण शरण ग्रहण करना चाहिये, सत्पुरुषके चरणका शरण ग्रहण करना चाहिये आखिर तक-मरणांत तक, जीवन पर्यंत इस प्रकारका धीरज भी मुझमें नहीं है। उस कामको धीरजसे करना चाहिये वह भी मैंने किया नहीं।

``**अचिंत्य तुज माहात्म्यनो नथी प्रफुल्लित भाव।**
अंश न एके स्नेहनो न मळे परम प्रभाव।।''

ज्ञानीका जो माहात्म्य आना चाहिये, अचिंत्य महिमाके धारक हैं तो उनका माहात्म्य भी उस प्रकारसे आना चाहिये, और भावमें जो प्रफुल्लितता आनी चाहिये वह भी नहीं दिखती है। अगर वास्तवमें योग हुआ होता तो ऐसा प्रकार बनता। अगर सत्संगका योग हो तो उस प्रकारसे प्रफुल्लित भाव आता है, और बहुत महिमा आती है।`अचिंत्य'- ऐसा प्रकार अभी तक मुझमें आया नहीं। मतलब कि योग तो हुआ है परन्तु मेरा ही कोई ठिकाना नहीं है, इस प्रकारसे लेता है और उसका खेद आता है। ऐसा खेद करते-करते ये बात करता है। ये सभी जो वचन हैं खेद सहित हैं। क्या ? खेद माने ऐसा स्वाभाविक खेद उत्पन्न होता है कि एक बार तो इसको (खुद) रोकना चाहे तो भी रोक नहीं सकता ऐसा खेद होता है। ऐसा कह सकते हैं कि अंदरसे जीव जल रहा है। क्या होता

है ? कि अंदरसे जीव जलता है। ``**अचिंत्य तुज माहात्म्यनो, नथी प्रफुल्लित भाव।**'' जो प्रफुल्लित भाव आना चाहिये ऐसा प्रकार अभी तक मुझमें आया नहीं है।

``**अंश न एके स्नेहनो, न मळे परम प्रभाव।**'' और आपसे प्रभावित होकर मुझे जो स्नेह-प्रेम आना चाहिये उसका एक अंश भी मुझमें आया नहीं है। राग होना वह दूसरी बात है और स्नेह होना वह दूसरी बात है, दोनों अलग-अलग बात हैं। क्या ? राग जो होता है, ऊपर-ऊपरसे होता है जब कि प्रेम जो होता है, स्नेह जो होता है वह अंदरसे होता है और उसका सम्बन्ध गुणके साथ होता है। स्नेहका, प्रेमका सम्बन्ध गुणके साथ होता है जब कि रागका सम्बन्ध गुणके साथ नहीं है। राग जो है वह कल्पित भाव है, कि जिसका कोई ठिकाना नहीं होता, जिसका कोई ठिकाना नहीं है-क्यों ? कि राग कब द्वेषमें पलट जायेगा इसका कोई नियम रहनेवाला नहीं है। कौनसे क्षणमें वह राग पलटा खाकर द्वेषमें आयेगा इसकी कोई खबर नहीं रहती इसलिये ऐसा कहते हैं कि मुझे जो होना चाहिये उसमेंसे कुछ भी नहीं हुआ है। आपश्रीसे प्रभावित होकर जो स्नेह, जो निर्मल प्रेम आना चाहिये उसका एक अंश भी मुझमें नहीं आया। राग होता है वह किस कामका ? राग तो कोई कामकी चीज नहीं है, वह तो स्वयं ही दोष है। राग जो है वह स्वयं ही दोष है।

``**अचळरूप आसक्ति नहिं, नहीं विरहनो ताप।**
कथा अलभ तुज प्रेमनी, नहिं तेनो परिताप।।''

बहुत अच्छे भाव लिये हैं। क्या ? कि आपश्रीके प्रतिकी जो आसक्ति अचलित रहनी चाहिये, चलायमान न हो ऐसी होनी चाहिये, ऐसी आसक्ति भी मुझे नहीं है, हो नहीं रही है। और मुझे आपश्रीके

विरहका ताप भी नहीं लगा है, ताप अर्थात् सहन न हो सके ऐसी स्थिति, ऐसा कुछ भी मुझे नहीं हो रहा है। मतलब कि इसके अलावा जो संयोग, इसके अलावा जो भी उदय हैं उन पर मेरा इतना वजन (ज़ोर) है कि आपश्रीका संयोग हो (या) वियोग हो मुझमें कोई खास फर्क नहीं दिखता है। (ऐसा लगता है कि) ठीक है, लेकिन वियोगमें जो दु:ख लगना चाहिये, परिताप लगना चाहिये, बहुत ताप लगना चाहिये, सहन न हो सके इतना ताप लगना चाहिये- ऐसा प्रकार अभी मुझमें नहीं है, और आपके प्रति जो अलभ्य प्रेम है उसकी कथा-उसका कहना वह भी मुझमें नहीं है। क्या ? महिमा आये तो बात करे न ! जिसको महिमा आती है वह बात किये बगैर रह नहीं सकता। ऐसी स्थिति नहीं है उसका भी मुझे परिताप नहीं है। आसक्ति नहीं होनेसे विरहका ताप भी नहीं लग रहा है। अगर आसक्ति होती तो विरहका ताप लगे बिना नहीं रहता। ऐसी जो Feeling Position होनी चाहिये, ऐसी जो भावोंकी स्थिति होनी चाहिये, वैसे कोई भाव मुझमें अभी तक उत्पन्न ही नहीं हुए हैं। ऐसे भाव क्यों नहीं हुए ? क्योंकि मैं दर्शनमोह आदि अनेक दोषोंसे भरा हूँ। ऐसे भाव उत्पन्न नहीं होने का क्या कारण ? कि अभी मेरा दर्शनमोह बहुत प्रगाढ़ है, बहुत तीव्र है। इसलिये ये जो कुछ भी होना चाहिये वह नहीं हो रहा है। दर्शनमोहका अनुभाग कम हो तभी तो ऐसी परिस्थिति खड़ी होगी, लेकिन वैसा अभी तक नहीं हुआ और ना ही हो रहा है।

``भक्तिमार्ग प्रवेश नहिं, नहीं भजन दृढ़ भान।
समज नहीं निज धर्मनी, नहि शुभ देशे स्थान।।''

यथार्थ भक्ति जो आनी चाहिये, बहुमान जो यथार्थरूपसे होना चाहिये उसमें अभी मेरा प्रवेश भी नहीं हुआ है। जिसे भक्तिमार्ग

कहा जाता है उसमें अभी मेरा प्रवेश भी नहीं हुआ है, मार्ग अर्थात् उपाय, उसमें तो अभी तक मेरा प्रवेश भी नहीं हो पाया है ऐसा लगता है। क्या ? **``भक्तिमार्ग प्रवेश नहिं, नहीं भजन दृढ़ भान''** और उसकी जो भजना होनी चाहिये वह भी नहीं है कि जिससे फिर मन आपकी ही भजना करता रहे, मन जो है दूसरे की भजना छोड़ दे। ऐसी जो दृढ़ता आनी चाहिये वह भी अभी तक नहीं आई। उसके सम्बन्धित कोई भान भी नहीं है कि वह परिस्थिति कैसी होगी !! **``समज नहीं निज धर्मनी, नहि शुभ देशे स्थान ।''** और मेरा जो आत्मधर्म है उसकी मुझे कोई समझ नहीं है तथापि आत्मधर्म प्राप्त हो ऐसे मेरे कोई लक्षण या मेरी कोई स्थिति भी नहीं है। और ऐसे स्थानोंमें, ऐसे क्षेत्रमें मेरा रहना भी नहीं हो रहा है।

``काळदोष कळिथी थयो, नहि मर्यादाधर्म।
तोय नहीं व्याकुळता, जुओ प्रभु मुज कर्म।।''

``काळदोष कळिथी थयो'' कलिकालमें जन्म हुआ और अभी जो विषम परिस्थिति है वैसे ही मेरे परिणाम भी विषम हैं। वास्तवमें तो विषम परिणाम जो हैं वही विषम काल है फिर उसके अनुसार बाहरके संयोग होते हैं इसलिये उसके पर आरोप करनेमें आता है। जब कि मूलमें तो जीवके परिणाम ही विषम हैं जिसके कारण कलियुगमें कोई मर्यादा नहीं रह पाती। जो मर्यादा धर्म होना चाहिये वह मर्यादा नहीं रहती है।

प्रश्न : मर्यादा अर्थात् आज्ञारूप धर्म लेना ?

पू. भाईश्री : हाँ, आज्ञारूप धर्म। इसमें कैसी विचित्रता होती है इसका एक दृष्टांत लेवें कि पू. गुरुदेवश्री (कानजी स्वामी) को गुरुदेव के रूपमें तो हर कोई वंदन करें, चरणस्पर्श करें, प्रवचन

सुने, नमस्कार करें लेकिन जब ऐसा खयाल जाये कि मेरे अभिप्रायमें और उनके अभिप्रायमें स्पष्टरूपसे विरूद्धता है तब मर्यादा तो उसे कही जाती है कि अपना अभिप्राय छोड़ देना।

प्रश्न : अपना अभिप्राय क्या छोड़ देना चाहिये ?

पू. भाईश्री : हाँ, छोड़ देना चाहिये। जैसे कि गुरुदेवश्रीने प्रसिद्ध किया कि पू. निहालचंद्रजी सोगानी एक ज्ञानीपुरुष हो गये फिर भी कुछ लोग अपना अभिप्राय छोड़ नहीं सके, तो वह मर्यादा बाहरका विषय हो गया वरना तो एकबार श्रीगुरु कहें कि बात Finish (पूरी) हो जाती है। वहीं पूर्णविराम हो जाता है। मेरी समझमें आये या नहीं आये, मुझे खबर हो, नहीं हो यह प्रश्न ही अस्थानमें है। वे दिन कहें तो दिन और रात कहें तो रात, वरना मर्यादा छूटती है। इसलिये कृपालुदेवने कहा कि ``**काळदोष कळिथी थयो, नहि मर्यादाधर्म**'' इस बातसे ऐसा लगता है कि शायद सतयुगमें ऐसा नहीं होता होगा। इस कालमें जैसा प्रकार देखनेमें आता है वैसा प्रकार शायद सतयुगमें देखनेको नहीं मिलता होगा। कि एक ओरसे उन्हें गुरु माने, स्वीकार करे और दूसरी ओरसे अपने (विरुद्ध) अभिप्रायको छोड़े नहीं, यह कलिकालका, पंचमकालका पुरावा है कि जीव मर्यादाधर्म में नहीं रहता है। ``**तोय नहीं व्याकुळता**'' ऐसा होने पर भी इसके लिये व्याकुळता, उसका दुःख होना, उसके लिये खेद होना,-इनमेंसे कुछ भी मुझे नहीं होता है। मेरे कर्म तो देखिये ! कर्म अर्थात् मेरी योग्यता-अयोग्यता तो देखिये ! क्योंकि खुद उदयाधीन परिणमन करता है न ! कर्मके वश होकर प्रवर्तन करता है। प्रकृतिके सामने हार जाता हूँ, देखिये तो सही मेरे कर्म ! कि मुझे उसका भी खेद नहीं हो रहा है।

``**सेवाने प्रतिकूळ जे, ते बंधन नथी त्याग; देहेन्द्रिय माने नहीं**

करे बाह्य पर राग'' आपश्रीकी सेवामें रहनेमें जो भी बंधन आड़े आते हैं उसका त्याग मैं नहीं कर रहा हूँ। अर्थात् मैं इतना प्रतिबंधमें हूँ। उस प्रतिबंधका त्याग नहीं किया होनेसे आपकी सेवा मैं नहीं कर सकता हूँ। मुझे कुटुम्ब-परिवारकी सेवा करनी होती है। मेरे अनुकूल-प्रतिकूल संयोगोंकी मैं सेवा करता हूँ और उसके बंधनमें रहते हुए मैं आपकी सेवा नहीं कर पाता हूँ, इसके प्रतिकूल जाता हूँ। सेवासे मैं प्रतिकूल वर्तता हूँ। अभी ऐसे बंधनोंका मैंने त्याग नहीं किया है। पूरा का पूरा बंधनमें पड़ा हूँ। ``**देहेन्द्रिय माने नहीं, करे बाह्य पर राग**'' और मुझे ये-ये चाहिये, पंचेन्द्रियके विषयोंका इतना ज़ोर रहता है कि मैं रागमें खींचा जा रहा हूँ। उसके रागमें खींचे बगैर मुझे जो आपकी सेवामें रहना चाहिये, वैसा मैं नहीं कर सकता हूँ। यह परिस्थिति खेदपूर्वक असह्य हो जानी चाहिये, लेकिन वैसी व्याकुलता भी मुझे नहीं हो रही है।

``**तुज वियोग स्फुरतो नथी, वचन, नयन यम नाहीं,**
नहि उदास अनभक्तथी, तेम गृहादिक मांही।।''

वियोगका जो दु:ख लगना चाहिये, वह नहीं लगता है ``**वचन नयन यम नाहीं**'' इसके सम्बन्धित वचन, वैसा दृष्टिकोण, वैसा संयम, यम अर्थात् संयम, ऐसा कुछ भी मुझमें नहीं है। ``**नहि उदास अनभक्तथी तेम गृहादिक माहीं।।**'' और घरमें अनभक्तोंसे जो उदासीनता आनी चाहिये वैसी उदासीनता और नीरसता भी मुझमें बिलकुल नहीं है।

``**अहंभावथी रहित नहि, स्वधर्म संचय नाहीं,**
नथी निवृत्ति निर्मळपणे, अन्य धर्मनी कांई।।''

मैं अहम्भावसे रहित नहीं हूँ अर्थात् अभी मुझे अहम्भाव बहुत वर्तता है; धर्मके क्षेत्रमें जो कुछ भी थोड़ी-बहुत प्रवृत्ति हो रही है

उस प्रवृत्तिसे तो ज्यादा मेरा अहम्भाव बढ़ जाता है। क्या ? केशवलालभाईने कहा था न ! कि कुछ भी करने जाता हूँ तब उससे ज्यादा उसका अहम्भाव बढ़ जाता है। **"स्वधर्म संचय नाहीं"** संचय अर्थात् प्राप्त करना। स्वधर्म, निजधर्म की प्राप्ति तो मैंने कोई अंशमें नहीं की है। परिणामोंमें निर्मलता से `निवृत्ति' अर्थात् नीरसपना आना चाहिये, ऐसा भी कुछ अभी हुआ नहीं। `अन्यधर्मनी' अर्थात् अन्य पदार्थके पर्यायों सम्बन्धी, अन्य पदार्थ के धर्म अर्थात् पर्यायों सम्बन्धी, जैसा नीरसपना आ जाना चाहिये वैसा नीरसपना भी मेरेमें नहीं है।

प्रश्न :- पहले लिया ना कि ``**नहि उदास अनभक्तथी तेम गृहादिक मांही**'' वहाँ अनभक्त का मतलब जिनको भक्ति नहीं हो ऐसे दूसरे मनुष्यों को लेना है ?

पू. भाईश्री :- हाँ ! उनके साथ भी मैं रस लेता हूँ, ऐसा भी होता है, ऐसा अर्थ भी निकलता है। मुझे जो उदासीनता आनी चाहिये, असत्संगसे जो उदासीनता आनी चाहिये, ऐसा प्रकार भी मुझमें नहीं है। जब पुरानी पहचानवाला कोई परिचित मिल जाता है तो रस आ जाता है। और तो और उसका स्मरण आने पर भी रस आने लगता है। और घरमें जो नीरसपना आना चाहिये, घर एवं घरके कार्योंमें जो नीरसपना आना चाहिये वह नीरसपना भी मेरेमें नहीं है जबकि इसका बोझा लगना चाहिये। घरमें एवं घरके कार्योंमें बोझा लगना चाहिये। वरना तो जो-जो कार्य पहले खुद रसपूर्वक करता था, उसी घरमें और उसी कार्योमें, वह सब बोझारूप लगने लगता; (लेकिन) ऐसा भी अभी नहीं हुआ है ऐसा कहते हैं। वह भी मेरा दोष है कि मुझे ऐसा कुछ भी नहीं हो रहा है।

``**नथी निवृत्ति निर्मळपणे**'' निर्मलतापूर्वक जो नीरसता आनी चाहिये, परिणाम न लगे तब तो निवृत्त हो ! परिणाम अगर रसपूर्वक लगे तो प्रवृत्त होता है वरना परिणाम-उपयोग निवृत्त रहता है। परसे उपयोग निवृत्त होगा तब तो स्वकार्य करेगा न ! अगर उपयोगकी निवृत्ति ही नहीं होगी तो स्वकार्य करेगा कैसे ? बाहरमें, व्यवसाय में से तो निवृत्ति ली हो परन्तु अगर उपयोगकी निवृत्ति नहीं हो तो वह किस कामकी ? उपयोग तो चला जाता है, उपयोग तो उस तरफ काम करता रहता है। इस प्रकार जो निर्मलता व नीरसता आनी चाहिये वैसा प्रकार भी नहीं है।

``**एम अनंत प्रकारथी, साधन रहित हुंय,**
नहीं एक सद्‌गुण पण, मुख बतावुं शुंय।।''

क्या कहते हैं इन सभी प्रकारसे मेरा कोई ठिकाना नहीं है। साधन रहित अर्थात् जिसका कोई ठिकाना न हो। मेरी योग्यताका कोई ठिकाना नहीं है। मुझमें एक भी सद्‌गुण नहीं है। किस बातको लेकर मैं आपको मुँह दिखाऊँ ? मुँह दिखानेके लायक भी मैं नहीं हूँ।

``**केवळ करुणामूर्ति छो, दीनबन्धु दीननाथ,**
पापी परम अनाथ छुं, ग्रहो प्रभुजी हाथ।।''

आपश्री तो करुणाकी मूर्ति हो, निष्कारण करुणाशील हो, जो दीन है उसके बन्धु हो, जो दीन होते हैं उसके नाथ हो। बन्धु भी आप ही हो और नाथ भी आप ही हो; जिसके आगे मैं अनाथ हूँ। मुझे किसीका आश्रय प्राप्त नहीं है; भटक गया हूँ, भटक चुका हूँ और पापी (भी) हूँ। बहुत पापके परिणाम मेरे हो रहे हैं, चाहे कैसे भी मेरा हाथ पकड़िये अर्थात् कुछ भी करके मुझे अब सही रास्ते पर ले आईये ऐसी मेरी आपसे बिनती है।

``अनन्त काळथी आथड्यो, विना भान भगवान,
सेव्या नहि गुरु संतने, मूक्युं नहि अभिमान।।''

भूतकाल जब देखता हूँ तो स्पष्टरूपसे मालूम पड़ता है कि अनन्त कालसे मैं भटक रहा हूँ, मेरे स्वरूपके भान बिना, हे भगवान ! मैं अनन्तकालसे भटक रहा हूँ।

``सेव्या नहि गुरु संतने, मूक्युं नहि अभिमान।'' जिस प्रकारसे श्रीगुरु व संतका सेवन करना चाहिये वह मैंने किया नहीं। क्यों नहीं किया ? क्योंकि मैंने अभिमान नहीं छोड़ा। अभिमानमें रहकर मैंने सत्सेवन नहीं किया, सत्संग नहीं किया, सत्सेवा नहीं की- ये सब मैंने अभिमानमें रहकर नहीं किया।

प्रश्न :- किस बातका अभिमान किया ?

पू. भाईश्री :- हम अपना कल्याण अपनेआप कर सकतें हैं। और हम कर लेंगे (इसलिये) श्रीगुरुके पास नहीं गया। उनकी सेवा नहीं की बल्कि अभिमानमें रहकर दूर रहा। अभिमानमें रहनेसे उनके पास नहीं गया (क्योंकि) अगर जाता तो अभिमान छोड़ना पड़ता कि मेरेमें कुछ भी नहीं है, आप मुझे समझाईये। आप मुझे मेरे हितका मार्ग बताईये ! मुझे आत्मकल्याण के रास्ते पर ले जाईये। ऐसा भी मैंने कभी नहीं किया।

``संत चरण आश्रय विना, साधन कर्या अनेक,
पार न तेथी पामियो, ऊग्यो न अंश विवेक।।''

संतचरण बिना, संतचरणके आश्रय बिना, सभी साधन किये जिसको धर्म साधन कहनेमें आते है वैसे दीक्षा पर्यंतके सभी साधन मैं कर चुका लेकिन ज्ञानीकी शरणमें रहते हुए वैसा नहीं किया और इसीलिये मैं संसारसे पार नहीं उतरा। और उस विषयमें, उस बाबतमें एक अंश विवेक भी मुझे संप्राप्त नहीं है।

हमारी थोड़े दिन पहले (सत्संगमें) बात चली थी कि अगर जीवको अंतरंगसे आत्मकल्याणकी भावना उठी हो, तो उसको First Thought (प्रथम विचार) ऐसा आता है कि, मुझे किसी ज्ञानीपुरुषके शरणमें जाना चाहिये; और उसके लिये मेरी पूरी-पूरी तैयारी होनी चाहिये। मुझे यहाँ पर मिले, मेरे गाँवमें मिले तो ही (सत्संग करूँगा) वैसा नहीं, बल्कि जहाँ भी प्राप्त होगा, दुनियाके किसीभी कोनेमें-जहाँ भी हो वहाँ, लेकिन मुझे वहाँ जाकर रहना है, मुझे कहीं और नहीं रहना है। इस प्रकारसे First Thought आये बिना नहीं रहता। और वैसा Very First Thought, पहला-पहला यह विचार आना उसका नाम विवेक है; भावनामेंसे उत्पन्न होनेवाला विवेक है। जिसको ज्ञानीपुरुषकी जरूरत भासित नहीं हुई है उसको आत्मकल्याण करनेकी भी जरूरत भासित नहीं हुई है- ये बात साबित करनेकी जरुरत नहीं है बल्कि अपनेआप ही साबित होती है। Natural Position (कुदरती परिस्थिति) तो ऐसी होती है।

"**संत चरण आश्रय विना, साधन कर्या अनेक।**" वह क्या सोचता है कि अपने आप कर लूँगा। "**पार न तेथी पामियो, ऊग्यो न अंश विवेक।।**" उसमें विवेक का एक अंश भी नहीं है।

इस ग्रंथमें पत्रांक-५०० है उसमें उन्होंने एक बात ऐसे ली है कि जीव की बीजभूत भूल यही हुई है, मूलभूत भूल यह रही है। फिर उन्होंने वहाँ इस भूलका ज्यादा विस्तार नहीं किया है परन्तु ये भूल रहनेके कारण बाकी की सभी भूलें रही हैं, ऐसे करके ५०० नंबरके पत्रमें यह बात लिखी है। बहुत बड़ा पेराग्राफ लिखा है। "**विचारकी उत्पत्ति होनेके बाद वर्धमानस्वामी जैसे महात्मापुरुषोंने पुन: पुन: विचार किया कि इस जीवका अनादिकालसे चारों गतियोंमें अनंतानंतबार जन्म-मरण होनेपर भी, अभी वह जन्म-**

मरणादिकी स्थिति क्षीण नहीं होती, उसे अब किस प्रकारसे क्षीण करना? और ऐसी कौनसी भूल इस जीवकी रहती आयी है कि जिस भूलका यहाँ तक परिणाम हुआ है ?'' यानी कि जन्म-मरण चालू रहे हैं। ऐसी कौनसी भूल रहती थी ? ``**इस प्रकारसे पुन: पुन: अत्यंत एकाग्रतासे सद्‌बोधके वर्धमान परिणामसे विचार करते करते....**'' सिर्फ विचार करते-करते इतना ही नहीं लिया, पुन: पुन: एकाग्रतासे विचार करते-करते ऐसा लिया। ``**सद्‌बोधके वर्धमान परिणामसे विचार करते करते जो भूल भगवानने देखी है, उसे जिनागममें जगह जगह कहा है,....**'' उस भूलको जिनागममें जगह-जगह कहा है। खुद अभी कहते नहीं हैं उस भूलको जिनागममें जगह-जगह कहा है; ``**कि जिस भूलको समझकर मुमुक्षुजीव उससे रहित हो।**'' इस प्रकार जगह-जगह ये बात की है उसे जानकर खुदकी भूल तोड़े, वैसे तो ``**जीवकी भूल देखनेपर तो वह अनन्त विशेष लगती है;....**'' जीव अनन्त भूल करता है। ``**परन्तु सबसे पहले जीवको सब भूलोंकी बीजभूत भूल...**'' कैसी ? ``**सब भूलोंकी बीजभूत भूलका विचार करना योग्य है, कि जिस भूलका विचार करनेसे सभी भूलोंका विचार होता है...**'' सभी भूलें समझमें आती हैं; ``**और जिस भूलके दूर होनेसे सब भूलें दूर होती हैं**'' इतनी बात ली है। फिर ``**कोई जीव कदाचित् नाना प्रकारकी भूलोंका विचार करके उस भूलसे छूटना चाहे;...**'' अनेक भूलें मिटाना चाहे ``**तो भी वह कर्त्तव्य है, और वैसी अनेक भूलोंसे छूटनेकी इच्छा मूल भूलसे छूटनेका सहज कारण होता है।**''

सम्पूर्ण निर्दोष होना हो तो उसका ध्यान मूल भूल मिटानेकी ओर जाना चाहिये, कि मुझे कोई सत्पुरुषकी जरूरत है; मैं बिलकुल अंधा हूँ, कौनसी दिशामें एक कदम रखूँ उसकी मुझे सूझ नहीं

है। कैसी शैलीसे बात की है देखिये ! शैली कैसी ली है ! और यहाँ बातको अंत तक Surprise में (रहस्यमें) रखा है। क्या कहते हैं ?

``**संत चरण आश्रय विना, साधन कर्या अनेक,**
पार न तेथी पामियो, ऊग्यो न अंश विवेक।।''

वे कौनसे साधन किये ? कि

``**सहु साधन बंधन थयां, रह्यो न कोई उपाय,**
सत् साधन समज्यो नहीं, त्यां बंधन शुं जाय ?।।''

शब्दार्थ तो बहुत सरल है। क्या हुआ ? कि

``**प्रभु प्रभु लय लागी नहीं**'' गुरुके लिये जो लय लगनी चाहिये वह लगी नहीं ``**पड्यो न सद्गुरु पाय, दीठा नहि निज दोष तो, तरीए कोण उपाय ?**'' पहली बात तो यह कि अपने दोष दिखते ही न हों तो उसे निकालनेका सवाल, मिटानेका सवाल ही कहाँ रहता है ? दूसरा कोई उपाय तो है नहीं। पहला उपाय ही ऐसा है कि जीवको अपने दोषोंको समझ लेना चाहिये। लेकिन अगर नुकसान का धंधा तो बंद करे नहीं तो नफाका धंधा कहाँसे चालू होगा ? फिर ऐसा अंदरसे आना चाहिये कि-

``**अधमाधम अधिको पतित, सकल जगतमां हुंय;**
ए निश्चय आव्या विना, साधन करशे शुंय।।''

ऐसा दिखना चाहिये कि इस जगतमें अगर कोई सबसे दोषित से दोषित होगा, नीच से नीच होगा, अधम से अधम होगा तो वह मैं ही हूँ, बस मेरे जैसा कोई नहीं होगा ! ऐसा हुए बगैर साधनके लिये जो पुरुषार्थ उठना चाहिये वह पुरुषार्थ नहीं उठेगा। एक बार (अंदरसे) ऐसा आना जरूरी है, आना चाहिये, फिर पुरुषार्थ उठता है, परिभ्रमणकी वेदनामें एक बार ऐसा आता है।

``**पडी पडी तुज पदपंकजे, फरी फरी मांगु ए ज।**''

अब तेरे पद-पंकज अर्थात् चरणकमलमें झुककर, वारंवार झुकते हुए, वारंवार वही माँगता हूँ **"सद्गुरु संत् स्वरूप तुज, ए दृढ़ता करी दे ज।।"** बस ! मुझे सद्गुरु चाहिये, मुझे संत चाहिये; इसके बिना मुझे मेरा स्वरूप मिलनेवाला नहीं है। स्वरूप प्राप्ति के लिये संत एवं सद्गुरु चाहिये और वही मैं माँगता हूँ; दूसरा मैं कुछ नहीं चाहता। ज्ञान नहीं चाहता बल्कि गुरु आश्रय, गुरु चरण माँगता हूँ, ऐसा कहते हैं।

इस तरह बीस दोहे बहुत अच्छी तरह लिखे हैं। जिसको वेदनामें आना हो उसके लिये इसे भावपूर्वक अंगीकार करने जैसा विषय लिया है। पद यहाँ पर समाप्त होता है।

परिभ्रमणकी यथार्थ चिंतना / वेदना आये तो जीव यथार्थपने उन्नति क्रममें प्रवेश करता है और परिभ्रमणके कारणका नाश नहीं हो तब तक चैन से बैठता नहीं है। धारावाहीरूपसे यह बात उस जीवके लक्ष्यसे हटती नहीं। यहाँ यथार्थरूपसे उदासीनताका क्रम शुरू होता है। ऐसी उदासीनता उदयभावमें नीरसता लाती है। जिसके कारणसे परिणाममें उदयभवासे होनेवाली मलिनता रुकती है और निर्मलता आने लगती है।

- पूज्य भाईश्री

मुमुक्षुकी भूमिकामें दर्शनमोह कहाँ-कहाँ और किस - किस प्रकारसे घटता-बढ़ता है उस सम्बन्धित अपूर्व, अनमोल एवं हितकारी मार्गदर्शन।

परम उपकारी मार्गदृष्टा : श्रद्धेय पू. 'भाईश्री' शशीभाई

अनंतकालसे संसारमें रुलती-भटकती हुई आत्माको निज-हितका प्रयोजन कहाँ है ? किस रीतिसे यह प्रयोजन सिद्ध हो ?- यह विषय अत्यन्त रहस्यमय और गुप्त रहा है।

अनादिसे अकारण ही दर्शनमोहवश जीव परमें सुख मान रहा है, जिससे वह पर-संयोगके पीछे दौड़ता है। वह भी इस हद तक कि अपना माना हुआ धर्म अर्थात् पुण्य कर्म करके तत्फलरूप अनुकूल संयोग पाकर सुखबुद्धिपूर्वक पुण्य कार्योंमें प्रवर्तन करता है। और कोई तो पूर्व पुण्यसे प्राप्त भोग-उपभोगके त्यागको ही धर्म मानते हैं और बाह्य त्यागमें वर्तते हैं तो भी वे तो मात्र कषायकी मन्दता (पुण्यभाव) में ही काल व्यय करते हैं। परंतु वे परिभ्रमणके मूल कारणरूप 'दर्शनमोह' के अभाव करनेके विषयमें अनभिज्ञ होनेसे बाह्य-क्रियामें ही अटक जाते हैं। और कोई परलक्ष्यी शास्त्र अध्ययनको ज्ञान-क्रिया मानकर उसमें अटक जाते हैं। परंतु उससे भी प्रयोजनकी सिद्धि होती है या नहीं ?- उस बारेमें अनजान होनेके कारण मिथ्या सन्तोषमें काल बिता देते हैं। लेकिन ओघसंज्ञा पूर्वक की जाती ज्ञान, क्रिया, भक्ति आदिसे दर्शनमोह कहाँ व कैसे वृद्धिगत होता

है ? अथवा यथार्थतासे उसका रस मन्द होकर सम्यक्-सन्मुख कैसे हो ?- ऐसे मूल प्रयोजनभूत विषयपर लक्ष्य ही नहीं जाता। तत्त्वका नित्य स्वाध्याय करनेवालेका इस प्रयोजनभूत विषयपर लक्ष्य जाये तथा सर्व मुमुक्षु जीवोंका श्रेय हो-इस भावनासे इस `प्रयोजन-सिद्धि'का प्रकाशन यहाँ है।

निज-लक्ष्यसे परिणाम-अवलोकन होनेके उद्देश्यसे कतिपय परिणामोंके विवरण द्वारा यहाँ कुछ भेद-प्रभेद जानने योग्य हैं। यदा :

(१) सरागी देव, सरागी गुरु, राग-वर्धक शास्त्रोंकी श्रद्धा, प्रशंसा, अनुमोदना, स्थापना आदि करनी, करवानी व अनुमोदना करनेसे दर्शनमोह तीव्र होकर गृहीत मिथ्यात्व होता है। उसी प्रकार वीतरागी देव, निर्ग्रंथ गुरु व उनके निरूपित शास्त्रकी निंदा, अवमानना, उत्थापना, विरोध आदि करने, कराने व अनुमोदनासे भी गृहीत मिथ्यात्व होता है। तथा उसके प्रतिपक्षरूप वीतराग सर्वज्ञदेव, भावलिंगी संत-गुरु और सत्शास्त्र प्रतिके बहुमान/भक्ति-भाव मिथ्यात्व-रसको मंद करनेवाले परिणाम हैं।

(२) वीतरागीदेव, गुरु, शास्त्रकी ओघसंज्ञारूप श्रद्धा कर्तव्य नहीं। अधिक समय तक ओघसंज्ञा रहने पर दर्शनमोह वृद्धिगत होता है। और देव-शास्त्र-गुरुके स्वरूपकी पहचानपूर्वक पूजादिसे दर्शनमोह मन्द होता है।

(३) अर्हंतदेवके द्रव्य-गुण-पर्यायके स्वरूपकी पहचानकर अपने आत्मा-स्वरूपकी पहचान करनेपर जीव दर्शनमोहका नाश कर सकता है।

``**जे जाणतो अर्हन्तने गुण, द्रव्य ने पर्यय पणे;**
ते जीव जाणे आत्माने, तसु मोह पामे लय खरे।''
(**श्री प्रवचनसार गाथा-८०**)

(४) आत्म-स्वरूपकी पहचान करनेके उदेश्य/हेतुसे तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेवालेका दर्शनमोह मन्द होता है। परंतु ओघसंज्ञासे अथवा आत्मार्थ सिवाय अन्य किसी भी लक्ष्यसे होनेवाला शास्त्राभ्यास दर्शनमोहकी वृद्धिका कारण है; भले ही शास्त्राभ्यास द्वारा क्षयोपशम बढ़ा हुआ हो तथा कषाय भी मन्द हुई हो।

(५) आत्म-स्वरूप प्राप्तिकी अत्यन्त भावनाके वश जिसे इस जगतमेंसे "कुछ भी नहीं चाहिए, एक मात्र अपनी आत्मा ही चाहिए"- उसके दर्शनमोहका रस घटता है। जिसको जगतके किसी न किसी पदार्थकी आवश्यकता लगती है उसको उक्त प्रकारकी भावना नहीं हो सकती; और ऐसे भावनाविहीन किसी भी प्रकारके परिणाम दर्शनमोह मिटानेमें कारणभूत नहीं होते।

(६) उक्त भावनाके कारण निज परम तत्त्वकी अपूर्व जिज्ञासा जगनेपर जीवको कहीं भी अच्छा नहीं लगता, और जिज्ञासापूर्वक स्वरूपकी खोजके तीव्र परिणाम निरन्तर रहा करते हैं- ऐसा जीव यथार्थ निर्णयकी भूमिकामें आने जितना दर्शनमोह मन्द करता है, परंतु तत्त्वज्ञानके वाचन-श्रवण द्वारा बहिर्लक्ष्यी उघाड़/धारणासे आत्माके विषयमें जानपना होनेपर जिज्ञासा खत्म हो जाती है, और धारणाके विषयका विकल्प द्वारा बारम्बार रटन होनेपर दर्शनमोह तीव्र होने लगता है।

(७) यदि प्रारम्भमें ही परिपूर्ण निर्दोषता/शुद्धताका लक्ष्य (ध्येय) बाँधनेमें न आये तो वास्तविक शुरूआत ही नहीं होती, यानी "पूर्णताके लक्ष्यसे ही वास्तविक शुरूआत होती है" दूसरे शब्दोंमें मुमुक्षुकी भूमिकामें यथार्थ प्रकारसे आगे बढ़ना होता है। वरना चाहे जैसे साधनसे शुरूआत करनेवालेका ध्येय अन्यथा होनेसे संयोग-प्राप्तिका लक्ष्य हो जाता है अथवा प्रशस्त रागका लक्ष्य हो जाता है अथवा

अल्प विकसित दशाका लक्ष्य रहता है- जो सब दर्शनमोहके बढ़नेके ही कारण सिद्ध होते हैं।

(८) उक्त प्रकारसे पूर्णताके ध्येय पूर्वक, ध्येय-प्राप्तिकी पूरी लगन और संकल्पवाले परिणाम दर्शनमोहको उत्तरोत्तर मन्द करते हैं। परंतु लगनके अभावमें प्रमाद रहा करता है जो आत्मगुणको दबा डालता है, अर्थात् स्वंयको खबर ही न पड़े/खयाल ही में न आये-ऐसे अहितरूप प्रमादके परिणाममें जीव वर्तता है और वह सम्यक्त्वसे दूर चला जाता है।

(९) उपरोक्त आत्म-भावना, जिज्ञासा, लगन, ध्येयका लक्ष्य आदि भावोंसे परिणाम स्व-लक्ष्यी होते हैं, अर्थात् निजहित-अहितरूप प्रयोजनके विषयमें उपयोग सूक्ष्म और तीक्ष्ण होकर प्रवर्तित होता है। तब स्वयंके दोष अपक्षपातरूपसे दिखते हैं और उन्हें मिटानेका ध्यान रहा करता है- इससे भी दर्शनमोहका रस टूटता है। परंतु जिसकी प्रयोजनभूत विषयमें स्थूलबुद्धि है, वह अप्रयोजनभूत विषयमें रस लेता है और निज-प्रयोजनके विषयको नहीं पकड़ पाता, वह भी दर्शनमोहको वृद्धिगत करता है।

(१०) पूर्वके कई विपरीत संस्कारोंके कारण जीव मिथ्या आग्रहमें वर्तता है, जिससे असत्य या दोषका पक्ष होता है; अथवा असरलता/हठाग्रहताके परिणामोंकी प्रबलता रहती है; अथवा पूर्वमें की हुई अयथार्थ समझकी पकड़से जीव छूट नहीं सकता -वहाँ दर्शनमोह तीव्र होता है। आत्मार्थी जीव तो पूर्वाग्रह छोड़नेकी तत्परता/अभिप्रायवाला, मध्यस्थभावमें वर्तन करनेवाला, सरलतासे वर्तन करनेवाला अथवा सरलतासे अपने दोष स्वीकार करनेवाला, सत्य/सत्को आत्मसात् करनेकी वृत्तिवाला होनेसे उसमें दर्शनमोहका अभाव करनेका सामर्थ्य खिलता (पनपता) है।

(११) और, दर्शनमोहसे वही जीव छूट सकता है जिसे अपने अनन्त भव-भ्रमणसे होते दु:खोंका त्रास लगा हो, भवभ्रमणके कारणरूप दूषित परिणामोंका भय लगता हो अथवा संसारसे भयभीत हो और जन्म-मरणसे छूटनेका मार्ग खोजता हो। परंतु जो जीव मात्र प्रतिकूलताओंको टालने या अनुकूलताओंकी इच्छासे पुण्यभावमें प्रवर्तता हो और जिसे भव-भ्रमणका भय न हो उसका दर्शनमोह नहीं छूटता।

(१२) जो जीव शुभरागका समर्थक है, जिसे शुभरागकी महत्ता है व इसी कारणवश जिसे शुभका आग्रह बन गया है अथवा जो शुभमें सन्तुष्ट हो गया हो- वह जीव भी दर्शनमोहको पुष्ट करता है। परंतु मोक्षार्थी जीव तो "पूर्ण शुद्धताके लक्ष्यसे ही पुरुषार्थ करता है।" उसे अपने उच्च कोटिके शुभपरिणाम होने पर भी उनमें विभावरूप तुच्छता लगती है, अत: उनकी महत्ता नहीं भासती व ऐसे भावों पर वजन नहीं जाता; बल्कि शुद्धता प्रगट करनेके बजाय स्वयं शुभमें रुका रहता है सो खटकता है; उसे शुद्धता प्रगट न होनेका असंतोष रहता है; चाहे जैसे शुभभावमें भी नहीं अटकता, अत: वह दर्शनमोहका अभाव कर शुद्धता प्राप्त कर लेगा।

(१३) सत्पुरुषोंकी शिक्षा यह है कि - "सर्व उदयमान प्रसंगोंमें रस मन्द कर प्रवर्तित होना, राग से विरक्त होना, क्योंकि रागमें रहा हुआ रस/चिकनापन तथा रागमें सावधानी दर्शनमोह वर्धक है।" अत: उपयोग देकर भी राग-रस मन्द होने पर व रागकी अरुचि होनेपर दर्शनमोह मन्दताको प्राप्त होता है। राग-प्रवृत्तिमें उत्साह लाना योग्य नहीं।

(१४) जगतके बाह्य पदार्थों सम्बन्धी कुतूहल अथवा आगमके अप्रयोजनभूत विषयोंकी विशेष जानकारी पानेका कुतूहल अथवा परलक्ष्यी ज्ञानादि भावकी प्रवृत्ति दर्शनमोह वर्धक है। परंतु मुमुक्षुकी

भूमिकामें तो स्वलक्ष्यी परिणाम व निजावलोकन होना ही योग्य है; उसी प्रकार प्रयोजनभूत विषयका श्रवण-मनन आत्मरुचिको उग्र करता है और तब दर्शनमोह मन्द होता है।

(१५) `विकल्पमात्रमें दु:ख है'- ऐसा होनेपर भी दर्शनमोहके कारण जीव कितने ही विकल्पोंमें सुखकी कल्पना करता है अथवा आत्मिक सुखके भाव-भासन बिना मन्द कषाय युक्त परिणाममें/शाताके वेदनमें जीवको सुखाभास होता है। परंतु आत्मार्थी जीवको भेदज्ञानके अभ्याससे विकल्पमें दु:ख लगता है जिससे उसकी अंतर्वृत्ति विकल्पमात्रसे हटनेकी हो जाती है व इस कारणसे उसे निर्विकल्पदशा होनेमें कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता। -ऐसे दर्शनमोहके छूटनेसे विकल्प (आत्मस्वभाव प्रतिके विकल्प तक) दु:खरूप व आकुलतामय लगता है, जिस कारणसे किसी भी विकल्पमें रुकनेका अवकाश नहीं रहता और तब तुरन्त ही निर्विकल्पदशाकी समीपता होती है।

(१६) गुणग्राहिता व गुणप्रमोद दर्शनमोहको मन्द करनेवाले हैं। परंतु दर्शनमोह तीव्र होनेपर दोषभावमें भी गुणकी कल्पना हो जाती है अथवा गुणको दोषकी कोटिमें गिनना हो जाता है। निज-दोषका बचाव/पक्षपात करना; जिसके प्रति राग हो ऐसे व्यक्तिके दोषका बचाव करना आदि प्रकार भी उत्पन्न हो जाते हैं, जिसके कारण गुणवान व्यक्तिका अवर्णवाद भी हो जाता है जो दर्शनमोह वर्धक है।

(१७) ज्ञानके क्षयोपशम व चारित्रगुणके क्षयोपशमवाले परिणाम होनेपर उनमें संतुष्ट होना, उनकी महत्ता करना, गणना होना इत्यादिक प्रकार दर्शनमोहकी वृद्धिके कारण हैं। परन्तु दर्शनमोहका नाश करनेवाला जीव अपनी दशामें दया, शांति, नम्रता, क्षयोपशम, गम्भीरता, उदारता व वैराग्य आदि गुण प्रगट होनेपर भी उसे "अभी बहुत

बाकी है"....ऐसा लगा करता है। उसको प्राप्त गुण गौण हो जाते हैं, उनकी गिनती या मुख्यता नहीं होती।

(१८) दर्शनमोहको दूर करनेवाला जीव गहन मंथन और चिंतनपूर्वक सत्शास्त्रोंका (स्वलक्ष्यी) अध्ययन करता है, उससे चैतन्य-रुचिका पोषण करता है और चैतन्यतत्त्वका घूँटण करता है। जब कि रूढ़िगत ढंगसे व परम्पराकी दृष्टिसे शास्त्राभ्यास करनेवाला, क्षयोपशमकी रुचिका पोषण करनेवाला, इन्द्रियज्ञानके उघाड़के रसमें उत्साहित होनेवाला उन-उन भावोंमें राग-रुचि वृद्धिगत कर दर्शनमोह पुष्ट करता है।

(१९) स्वरूप-विचारणाके कालमें अभेद/सामान्य स्वरूपका रस और रुचि दर्शनमोहका ह्रास होनेमें कारणभूत होते हैं। वहाँ, विचारणामें भेद जानने पर भी वे गौण होकर अभेदके प्रति ही मुख्यरूपसे झुकाव रहता है। परंतु तत्त्वज्ञानके विचारोंमें भेद- प्रधानतासे, अर्थात् भेदकी रुचिसे भेद-कल्पना दृढ़ होकर दर्शनमोहमें वृद्धि होती है।

(२०) मुमुक्षु जीवको अन्तर्मुखी चिंतनकी विचारधारामें ज्ञान लक्षणसे ज्ञान-स्वभावकी पहचान/यथार्थ स्वरूप-निश्चय होने पर, स्वरूप-सन्मुख होनेसे दर्शनमोहका रस अत्यन्त क्षीण होता है; कारण कि प्रतिभासित निज स्वरूप निर्मोही तत्त्व है और स्वभावसे मोहका घातक है। परंतु बहिर्मुखी विचारोंसे मात्र तर्क-युक्ति-न्याय और शास्त्राधारसे कल्पित अथवा अन्य गुणको लक्षण बनाकर अयथार्थ निर्णय होनेसे वैसी कल्पना दृढ़ होनेसे मिथ्यात्व तीव्र होता है।

(२१) मुमुक्षुकी भूमिकामें अन्तर्मुख होनेके लिए अनुभूतिका मार्ग/उपायरूप मूल मात्रको ही खोजनेवाले मुमुक्षुका दर्शनमोह तो उस कालमें मन्दताको प्राप्त होता है। "मार्गकी खोज जितनी उग्र, उतनी ही मार्गकी समीपता होती है।" जब कि मार्गकी संशोधकवृत्तिके अभावमें

जीव धारणाकी प्रधानतामें रुक जाता है अथवा खण्डन-मंडन या विधि-निषेधके भेदों या नय-भंगमें अटक कर दर्शनमोहकी वृद्धि करता है।

(२२) दर्शनमोहकी प्रबलताके कारण "स्वानुभव-प्राप्ति कठिन है/ दुर्गम है, बहुतसे जीव प्रयत्न करने पर भी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर पाते" इत्यादि परिणाम और अभिप्राय वर्तते हैं। उसरूप कर्तव्य होने पर भी, वैसा माननेपर भी "बादमें करुँगा...बादमें.... करुँगा... पहले अमुक कार्य करनेके बाद करुँगा..."- ऐसे परिणाम दर्शनमोहकी प्रबलता दर्शानेवाले हैं। आत्मार्थीको तो शीघ्रतासे आत्मकार्य कर लेनेके अभिप्रायपूर्वक प्रवृत्ति होती है, जिस कारणसे उस अप्रयोजनभूत विषयमें व्यर्थ समय गँवाना सहन नहीं होता, उधरका ही खिँचाव रहा करता है।

(२३) स्वरूप-सम्बन्धी सूक्ष्म बोधकी अभिलाषासे दर्शनमोह मन्द होता है। परंतु दर्शनमोहकी तीव्रता होनेपर सत्पुरुषके श्रीमुखसे स्वरूपका सूक्ष्म बोध निर्झरित होता हो तब भी वहाँ लक्ष्य नहीं रहता, अन्य भावोंमें उपयोग खोया रहता है। प्रबल दर्शनमोहवाले जीवको तो पारमार्थिक बोध चर्चित होता हो तब तन्द्रा या निद्रा जैसी स्थिति वर्तती है।

(२४) लौकिक संज्ञा या लौकिक अभिनिवेशके कारण जीवकी दृष्टि लोगों पर रहती है। समाज अथवा लोककी दृष्टिमें अपना दिखाव या स्थान प्राप्त करनेकी कल्पनापूर्वक कोई भी प्रवृत्ति करते हुए दर्शनमोह पुष्ट होता है। परंतु आत्महितकी मुख्यतावाला जीव तो मान / स्थान मिलनेके प्रसंगोंसे दूर भागनेकी सहज वृत्तिमें रहता है। अपनी योग्यता विशेष हो तो भी उसका गोपन / दबाकर रहना चाहता है, ताकि पर-संग और पर-परिचय न बढ़े व स्वकार्य और

असंगवृत्तिको पोषण मिले।

उपदेश नोंध (२) में श्रीमद् राजचंद्रजी कहते हैं कि :

``धर्ममें लौकिक बड़प्पन, मान, महत्त्व आदि की इच्छा, यह तो धर्मके द्रोहरूप हैं। ...धर्मका महत्त्व तो बहानारूप है और स्वार्थ सम्बन्धी मान आदिका प्रश्न मुख्य है, यह धर्मद्रोह ही है।''

(२५) ओघसंज्ञापूर्वक प्रवर्तते जीवका कभी कल्याण नहीं होता। क्योंकि ओघसंज्ञामें जीवको `धर्म'की वास्तविक जरूरत ही नहीं लगती, तब दर्शनमोह कैसे मिटे ? परंतु जिस जीवको चार गतिके समस्त प्रकारके दु:खके अभाव और वैसे ही सादि अनन्त कालके परिपूर्ण अनन्त सुख-समाधिकी प्राप्तिका यथार्थ मूल्यांकन हो उसे ही धर्मका मूल्य समझमें आता है, उसे ही वास्तविक जरूरत लगती है, अत: वह सत्पुरुषार्थमें सहज ही प्रवृत्त होता है और उसका दर्शनमोह नष्ट होता है।

(२६) रूढ़िगत धर्म-क्रियामें जीव अनेक प्रकारके छोटे-छोटे दोषोंको टालनेकी मुख्यता रखता है, परन्तु दर्शनमोह और अज्ञान जैसे महा दोषोंके निवारणहेतु दुर्लक्ष्य रखता है। वह मिथ्यात्व और अज्ञानसे होनेवाले नुकसानकी गम्भीरतासे अनभिज्ञ रहता है, अत: वह दर्शनमोहको पुष्ट करता है। इसके विपरीत सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञानके स्वरूपकी समझपूर्वक महिमा आने और मुख्यता होनेपर जीव दर्शनमोहके महादोषको दूर करनेका प्रयत्न करता है।

(२७) जीव निज-हितके विषयमें जितना जरूरतमन्द हो उसी अनुपातमें उसका दर्शनमोह मन्द पड़ता है। उसे `मार्ग पानेपर ही छुटकारा है' - ऐसी बेचैनी और अधीरता रहती है। जब कि अन्य जीवोंको तत्त्वज्ञानका विषय मात्र मनोरंजनका एक प्रकार बन जाता है, जिससे जागृतिका अभाव वर्तता है और दर्शनमोह वृद्धिगत होता

है।

(२८) उदयकाल में अभिप्रायपूर्वक परपदार्थमें इष्ट अनिष्टपना होनेपर दर्शनमोह बढ़ता है, क्योंकि उसमें निज ज्ञायकको भूलकर परमें एकत्व भावसे प्रवर्तन होता है। परन्तु `मैं मात्र ज्ञायक हूँ' - ऐसी जागृतिपूर्वक, और कोई पदार्थ भले या बुरे नहीं हैं - ऐसे अभिप्राय सहित, उदयकालके समस्त परपदार्थ मात्र `ज्ञानके ज्ञेय हैं' - ऐसे उपयोग / सावधानीरूप अभ्यास / प्रयत्नसे दर्शनमोह टूटता है।

(२९) मार्ग प्राप्तिकी यथार्थ विधिरूप भेदज्ञानका प्रयोग समझनेके समय, प्रयोगके विषयके विश्लेषणको परलक्ष्यीज्ञानमें मात्र धारणाका विषय बना लेनेसे तथा उस विषयकी समझप्राप्तिमें संतुष्ट होनेसे दर्शनमोहमें कोई अन्तर नहीं पड़ता । परन्तु ज्ञानको धीर और सूक्ष्मकर अन्तर्मुख होनेसे विधिरूप ज्ञानमें अस्तित्व ग्रहण करनेके प्रयोगाभ्याससे दर्शनमोह घटता है।

(३०) समस्त न्याय और नयके पहलुओंकी समझसे प्रयोजनकी मुख्यतामें रहना व तदनुसार अन्तर-गवेषणा चलना दर्शनमोह मन्द होनेका कारण है। परन्तु अनेक प्रकारसे न्याय और नयके विषयको समझते हुए मूल प्रयोजन गौण हो जाये तो दर्शनमोह वृद्धिगत होता है।

(३१) जगत्के किसी भी पदार्थ में सूक्ष्मरूपसे भी सुखकी कल्पना अर्थात् सुख-बुद्धि रह जानेसे बाह्य पदार्थकी महत्ता बनी रहती है जिससे दर्शनमोह वृद्धिगत होता है। परन्तु आत्मार्थी जीवको तो `जगत् इष्ट नहीं आत्मसे' - इस सिद्धान्तके ग्रहणसे सम्पूर्ण जगत्के प्रति उदासीनता रहती है; वैसे ही आत्मिक आनन्दकी भावनापूर्वक जितेन्द्रियता होती है; उसे बाह्य विषयोंकी महत्ता नहीं होती, उनमें

सुखाभास नहीं होता, वरन् आकुलताके कारण लगते हैं अत: उसका दर्शनमोह घटता है।

(३२) दर्शनमोहको सबसे अधिक तीव्र करनेवाला महादोष `स्वच्छन्द' है, जिसको भली भाँति समझना आवश्यक है। श्रीमद्जी कहते हैं कि :

``**रोके जीव स्वच्छन्द तो, पामे अवश्य मोक्ष;**
पाम्या एम अनन्त छे, भाख्युं जिन निर्दोष।''

(**आत्मासिद्धि शास्त्र - १५**)

- ऐसे स्वच्छन्दके सद्भाव (*) और अभाव (०) दर्शानेवाले कितने ही भावों सम्बन्धी विवरण निम्न हैं :

* शास्त्र-संगत या विसंगत ज्ञानके क्षयोपशम सम्बन्धमें `मैं समझता हूँ' - ऐसा भाव रहा करना व उससे जिज्ञासाका अभाव रहना।

० ज्ञानका क्षयोपशम विशेष शास्त्रोंके अनुकूल होने पर भी अपूर्व दशा / निरावरणताकी अप्रगटताका जिज्ञासापूर्वक भान रहना।

* सत्पुरुषके वचनमें शंका व उस अनुरूप भूल देखनेकी वृत्ति रहना / होना, अर्थात् गाथार्थ या शब्दार्थकी मुख्यताकर भूल निकालना / समझना।

० सत्पुरुषके वचनमें नि:शंकता पूर्वक परम प्रीति होना।

* सत्पुरुषमें श्रद्धाका अभाव व तदनुसार अभक्तिके परिणाम होना।

० सत्पुरुष, यानी प्रगट सत्-जीवंत सत् है, ऐसा जानकर उनके प्रति अटल श्रद्धा, दृढ़ आश्रय और अतुल भक्ति होना।

* सत्पुरुषका विरोध / अवर्णवाद करना।

० सजीवनमूर्तिको परम हितका कारण जानकर एक निष्ठा व सर्वार्पणबुद्धिपूर्वक उनकी महिमा आना, आज्ञाशीलतासे वर्तन करना,

उनका गुणानुवाद करना।

* चैतन्यको स्पर्श कर निर्झरती सत्पुरुषकी वाणीका प्रत्यक्ष श्रवण होनेपर भी अहोभावका अभाव यानी उपेक्षाभाव रहना, निरुत्साहितभाव रहना।

० अत्यन्त महिमापूर्वक और अत्यन्त जिज्ञासामें रहकर सत्-श्रवण करना अथवा श्रवणकालमें उस वाणीका मुमुक्षुके अन्तरंगको छूना।

* सत्पुरुषके प्रति विनय-भक्तिमें न्यूनता, `मुझे आता है' - ऐसा गरूर चढ़ना।

० सत्पुरुषकी अन्तरंग दशाको पहचानकर परम दैन्यत्व-परम विनयशीलता रहनी, अपनी लघुता / हीनताका भान रहना।

* सत्पुरुषके चारित्रदोषके प्रति लक्ष्य रहना, उसकी मुख्यता होना।

० सत्पुरुषके अलौकिक चारित्रको लक्ष्यमें लेकर पुरुषार्थकी प्रेरणा पाना।

* सत्पुरुषकी लोकभय, समाजभय, अपकीर्तिभय अथवा अपमानभयसे उपेक्षा होना या विमुखता होना।

० समाजको गौणकर, मान-अपमानको भी गौणकर, सत्समागको परम हितका कारण जानकर उसकी उपासना करनी।

* सत्पुरुषकी अपेक्षा कुटुम्ब-परिग्रहादिके प्रति अधिक राग रहना।

० कुटुम्ब-परिग्रहादिकी तुलनामें भी सत्पुरुष-प्रतिकी अधिकता होना सो प्रगट सत्का मूल्यांकन है - ऐसी समझपूर्वक आदर होना।

* अपनी कल्पनानुसार अथवा सत्पुरुषकी अपने अनुसार कल्पना कर उनके वचनोंका तोलन करना अथवा उनका लौकिक रूपसे अर्थ घटन करना या उनको भावुकता, अतिशयोक्ति या अजागृत

उपयोगके रूपमें वचनालाप गिनना / समझना।

० ज्ञानीके वचनको अलौकिक अर्थमें घटाना, उनके वचनोंमें गर्भित परमार्थको समझनेका दृष्टिकोण रखना, अर्थात् उनमें समाहित मार्गकी विधिके गम्भीर रहस्यकी गहन चिंतनसे शोध करना।

* प्रत्यक्ष सत्पुरुषका योग होनेपर भी शास्त्र-स्वाध्यायको अधिक महत्त्व देकर सत्संगको गौण करना।

० सत्पुरुष-समागमको शास्त्र-स्वाध्यायसे भी अधिक उपकारी समझना और उसे मुख्यकर उसकी उपासना करना।

* सत्पुरुषके उपकारको छिपाना / भूलना अथवा उनके उपकारकी उपेक्षा करना या अपने गुरुके अप्रसिद्ध होनेसे उनको गोपनकर प्रसिद्ध ज्ञानीका नाम (मानार्थ) प्रगट करना।

० सत्पुरुष गुरुके उपकारको अगोप्य रीतसे प्रसिद्ध करना और उनके उपकारका सर्वोत्कृष्ट रूपसे महिमा-गान करना।

* सम्प्रदाय अथवा परम्परा चलाने हेतु तत्त्वप्रचार प्रभावनाके अंगरूप प्रवृत्ति करना और ऐसी अपनी समझ अनुसार करते हुए सत्पुरुषकी आज्ञाकी अवगणना करनी।

० लोक-दृष्टिसे दूर रहकर, ज्ञानीकी आज्ञानुसार अथवा परमार्थके लक्ष्य सहित धर्म-प्रभावना और तत्त्वप्रचारके कार्य करना (निजहितकी अप्रगटताकी खटक सहित)।

* ग्रन्थ सम्बन्धी व्याख्यान / लेखनकी कुशलतासे अपनी महत्ता-प्रदर्शनकी इच्छा रहना, आचार्यो द्वारा प्रणीत उच्च कोटिके आध्यात्मिक न्याय बतलाते हुए अपनी महत्ता - प्रदर्शनका हेतु मुख्य रहना।

० शास्त्र-वांचन / लेखन आदि प्रवृत्तिमें निपुणता होनेपर भी उन प्रवृत्तियोंमें गुरु-उपकार / महापुरुषके उपकारको प्रदर्शित करना।

आध्यात्मिक न्याय समझाते हुए जो आत्मलक्ष्य रहा हो उसी स्वलक्ष्यी भावसे, विनम्रतासे उनका निरूपण करना।

* सत् शास्त्रका अविनय करना, सत्श्रवणकी उपेक्षा होना जिससे सत्श्रवणमें अनियमितता होना (श्रोताके लिए)।

० सम्यक्ज्ञानका निमित्त समझते हुए शास्त्रका विनय करना, स्वाध्यायमें नियमित रहना (श्रोताके लिए)।

* शास्त्रजीके विषय-प्रतिपादनको छोड़कर विषयान्तर प्रवर्तनरूप पद्धति सो वक्ताका शास्त्रके प्रति अविनय है।

० शास्त्र-विषयसे हटकर विषयान्तर न हो, ऐसी जागृति रखना (वक्ताके लिए)।

* सर्वज्ञ वीतरागदेवकी प्रतिमामें विकृति करना अथवा उनकी स्थापनाका विरोध या निषेध करना।

० सर्वज्ञ वीतरागदेवकी प्रतिमाजीका स्वसंवेदनप्रकाशनमें कारणभूत जानकर, मूल आम्नायमें विकृति न हो - ऐसे अभिप्रायपूर्वक, स्व-पर हितार्थ उनकी स्थापना करना, करवाना और स्थापनाकी अनुमोदना करना।

* बारह अंगके साररूप शुद्धात्मानुभूतिको प्राप्त सत्पुरुषके एक वचनमें अनन्त आगम गर्भित रहते हैं, तो भी उनके वचनोंको सम्मत करनेके लिए आगम-आधारका आग्रह रखना।

० ज्ञानीके प्रत्येक वचनमें अनन्त नयोंकी संधि रहती है - ऐसा विश्वासकर उसके अर्थ-गांभीर्यको सम्मत करना।

* श्रीमद्जीने `आत्मसिद्धि' में गाया है कि :

``**प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहि, परोक्ष जिन उपकार;**
अेवो लक्ष थया विना, उगे न आत्मविचार''।।११।।

- उक्त पदानुसार प्रत्यक्ष सत्पुरुषका उपकार अर्थात् भक्ति न

होनेसे गुणस्थानादि नापको मुख्यकर भक्तिमें न्यूनता होना अथवा अभक्ति होना अथवा अन्य परोक्ष ज्ञानीकी प्रत्यक्ष ज्ञानीके साथ तुलना करना।

० उक्त पदानुसार प्रत्यक्ष सत्पुरुषका उपकार समझकर, सर्वाधिक उपकारी मानते हुए उनके चरणोंकी विनय-उपासना करना।

* प्रत्यक्ष ज्ञानीकी अतिशय भक्तिको निमित्त-प्रधानता समझना।

० अनन्त भव-उच्छेदको सजीवनमूर्तिके प्रत्यक्ष समागमका फल जानकर, उपादानमें पुरुषार्थकी जागृति सहित अनन्य भक्तिके परिणाम होना। (- ऐसे परिणाममें राग गौण है और ज्ञान तथा पुरुषार्थ मुख्य है)।

जिस जीवको भव-भ्रमणका भय नहीं रहता वह उक्त (*) प्रकारके स्वच्छन्दमें वर्तता है, और जो जीव इस प्रकारके स्वच्छन्दसे बचकर आत्म-भाव / स्वच्छन्दके प्रतिपक्षी भावरूप (०) वर्तता है उसे दर्शनमोहका अभाव होकर मोक्ष पर्यंतकी सिद्धि मिलती है - ऐसा आश्वासन श्रीमद्जीके उपरोक्त 'आत्मसिद्धि' के पदमें प्रसिद्ध हुआ है।

(३३) लोक-मान्य धर्मश्रद्धालुताकी महत्ता, लोगोंकी नजरमें धर्म-श्रद्धालु दिखनेकी मनोवृत्ति, धार्मिक समाजमें राजनीतिरूप प्रवृत्ति- जो लोकसंज्ञाका ही अंग है, मिथ्यात्वको तीव्र करती है। ज्ञानीके अभिप्रायमें तो सत्यकी श्रद्धाकी तुलनामें संख्या गौण है। सत्यको संख्याकी अपेक्षा नहीं होती, लोकमान्यताकी अपेक्षा नहीं होती - इस प्रकारकी दृढ़तामें मुमुक्षु जीवके दर्शनमोहका रस मन्द पड़ता है।

(३४) चार अनुयोगोंमेंसे किसी एक अनुयोगकी रुचि और तद्विषयक क्षयोपशम बढ़ने पर अध्यात्म तत्त्वकी गौणता होना सो सम्यक्त्व-प्राप्तिके प्रतिकूल है। सम्यक्त्व-समीप पहुँचनेवाला तो चारों

अनुयोगोंमेंसे अध्यात्म-दृष्टि ही पल्लवित करता है और वही चारों अनुयोगोंमेंसे उनका यही तात्पर्य समझकर आगे बढ़ता है।

(३५) राग और परमें एकत्वबुद्धिपूर्वकके अध्यासका त्याग हुए बिना बाह्य त्यागमें धर्म / परमार्थकी कल्पना होनेपर कर्तृत्वरूप दर्शनमोह वृद्धिगत होता है। - ऐसी स्थितिमें उक्त प्रकारके अज्ञानी-त्यागीकी अनुमोदना होती है, उसका अनुसरण होता है। परन्तु प्रथम तो अध्यासके त्याग करने हेतु एकत्वरूप परिणमनके कालमें भी `मैं ज्ञानमात्र हूँ''.... ऐसे भिन्न पड़नेका प्रयत्न / अभ्यास होना दर्शनमोहके नाशका उपाय है।

(३६) बाह्यतप व संयमके फलमें सिद्धिकी चाह अथवा अनुकूल संयोगोंकी अपेक्षा दर्शनमोहको तीव्र करनेवाले परिणाम हैं। परन्तु स्वरूप-प्राप्तिकी भावनापूर्वक बाह्य क्रियाके आग्रह बिना, हठ बिना, सहज संयम-तपके परिणाम होना योग्य है, जो भावनानुकूल हो।

(३७) सम्प्रदाय / समाजमें मान-स्थान पानेके लक्ष्यसे तप-त्याग करनेसे दर्शनमोह बढ़ता है, परन्तु मात्र अन्तरशुद्धिके लक्ष्यसे यथाशक्ति सहज त्याग-वैराग्य होनेपर दर्शनमोहका रस मन्द होता है।

(३८) व्रत-संयममें, देहकी क्रियामें आत्मबुद्धि होने पर देहात्मबुद्धि दृढ़ होनेसे मिथ्यात्वकी पुष्टि होती है। परन्तु देहसे भिन्न चैतन्यकी प्रतीति / अनुभवकी दृष्टिसे व्रत-संयमका प्रयोग करते हुए दर्शनमोहका नाश हो सकता है।

(३९) स्वरूपके लक्ष्यसे, स्वरूपकी अनन्य रुचिपूर्वक, चैतन्यकी महिमाके कारण सहज चलता स्वरूप-चिंतवन और निजतत्त्वका घोलन दर्शनमोहको गला डालता है। परन्तु यथार्थ लक्ष्यरहित शुष्क-चंचल विकल्प, नयका भंगजाल, तर्क प्रधानताके आधारवाले विकल्पोंको बढ़ानेवाली विचारणा दर्शनमोहके रसको बढ़ानेमें कारणभूत होती है।

(४०) आत्मज्ञान होनेके पूर्व तत्त्व-प्ररूपणा में नि:शंकता नहीं हो सकती - ऐसी संदिग्ध अवस्थामें उपदेशक होने पर, अपने द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतोंकी रक्षा करते हुए व उसी प्रकार तत्त्वज्ञानमें विवाद होनेपर अपनी मान्यताको प्रतिष्ठाका विषय बनाने पर दर्शनमोह वृद्धिगत होता है। परन्तु जिसे दर्शनमोहका अभाव करना है उस आत्मार्थीका आत्मज्ञान होनेके पूर्व उपदेशकके पदसे दूर रहनेका अभिप्राय और प्रयत्न होता है; फिर भी यदि उदयवश शास्त्र-वांचन करना पड़ता हो तो मुख्यरूपसे परमार्थ-मार्गके अनुसरणमें हेतुभूत ऐसे सत्पुरुषकी भक्ति-गुणगान, सत्पुरुषके प्रति प्रमोदभावना तथा उनके प्रति अविरोध भावना व्यक्त करनेपर दर्शनमोहका रस मन्द पड़ता है यानी कि सजीवनमूर्तिके आश्रयके आश्रयसे तत्त्व-प्रचार / प्रसारकी प्रवृत्ति करनेमें दोषसे बचा जा सकता है।

(४१) उपदेशक स्वयं उपदिष्ट-विषयरूप न परिणमित होते हुए उपदेश करने पर, वैसे ही प्रतिपादनमें सिद्धांत खण्डित होनेसे, तथा अध्यात्मरस-रहिततासे दर्शनमोहका बन्ध करता है; कारण कि ऐसे प्रसंगोमें रागरस/विकल्परस अथवा कथनशैलीका रस वृद्धिगत हो जाता है। जबकि सम्यक्त्वके समीप जानेवाला जीव यथार्थ समझको परिणमित करनेका पुरुषार्थ / प्रयोग करता है; और तत्त्व-प्रतिपादनके कालमें उसकी रसपूर्वक ऐसी प्रवृत्ति होती है कि जिससे आत्मभावका आविर्भाव हो; इसी प्रकार कहीं भी सिद्धांत खण्डित न हो - ऐसे सूक्ष्म उपयोगपूर्वक प्रतिपादन करनेकी सावधानी / अभिप्राय रहनेसे दर्शनमोह तीव्र नहीं हो सकता, वरन् मन्दताको प्राप्त होता है।

(४२) तत्त्वप्रचार / धर्मप्रभावना आदि कार्योमें रस अथवा महत्त्वके कारण प्रत्यक्ष सत्पुरुषके समागमके लिए अवकाश न रखना, अर्थात् प्रत्यक्ष-योगरूप सत्संगको गौण करनेसे दर्शनमोह बढ़ता है। (यह

सूक्ष्म स्वच्छन्द है परन्तु भावि कालमें वह स्थूल हो जाता है), जिससे परम आदरका अभाव हो जाता है। ऐसे ही बाह्य प्रवृत्तियोंमें अग्रणी होने पर `मैं भी कुछ हूँ' - ऐसा भाव वर्तनसे वह जीव अपनी अल्पता या लघुताको लक्ष्यमें नहीं ले पाता, अत: उसका स्वच्छन्द नहीं रुकता। परन्तु जिसके दर्शनमोहका नाश होनेवाला है वैसे मुमुक्षु जीवको वास्तविक आत्मभावपूर्वक सत्पुरुषके प्रति माहात्म्यबुद्धि होनेसे वह सर्व प्रकारकी बाह्य धर्मप्रवृत्ति / प्रचार-प्रसार करते हुए भी प्रत्यक्ष सत्संगको बहुत महत्त्व देता है; और `मैं तो सेवक हूँ, दासानुदास हूँ, चरणरज हूँ .... ऐसी वृत्तिसे समागम करता है।

(४३) प्रत्यक्ष योगमें बोध-वचनोंका परम आदरभावसे एक मात्र आत्मार्थके लिए करनेवालेका दर्शनमोह टूटता है। परन्तु आत्मार्थ सिवाय अन्य किसी भी हेतुसे किया हुआ श्रवण दर्शनमोहको तीव्र करता है।

(४४) बाह्य-प्रसिद्धिके उदयमान प्रसंगोंमें (पूर्व पुण्योदयके कारण) - जिस जीवको मिठास लगा करती है वह दर्शनमोहको बढ़ाता है। आत्मार्थी जीवको तो बाह्य-प्रसिद्धिके प्रसंगोंको नि:सार जानते हुए उनके दूर भागनेकी वृत्ति रहती है।

(४५) प्रत्यक्ष सत्पुरुषका समागम तो अनादि ओघसंज्ञा मिटनेका कारण है - ऐसा होनेपर भी जीव तीव्र दर्शनमोहवश ओघसंज्ञाका त्याग नहीं करता; ऐसी समझपूर्वक सत्समागम करनेमें ओघसंज्ञा मिटनेसे / भावभासन होनेसे दर्शनमोह मन्द पड़ता है।

(४६) बाह्य-दृष्टिके कारण अज्ञानी जीवके क्षयोपशम व वाक्पटुतासे आकर्षित होकर उसे ज्ञानी मानकर अनुमोदन / अनुसरण करनेसे दर्शनमोह बढ़ता है। आत्मार्थी जीव तो विद्वता और ज्ञान भिन्न-भिन्न विषय / वस्तु हैं - ऐसा जानते हुए परीक्षा कर, यथार्थ

समझकर, विवेक करता है।

(४७) परम शांत, उपशम रस छलक ाता, वीतराग भाववाही जिन-बिंब, जिन-प्रतिमाजी सर्व क्षेत्रवर्ती भूत-वर्तमानभावीके अनन्त तीर्थंकरों अर्हंतोंका प्रतिरूप-प्रतिनिधियमान है। परन्तु ऐसे किसी एक जिनबिम्ब-जिनप्रतिमाजीकी स्थापनाका निषेध-अवमानना करना व अन्य प्रतिमाजीकी स्थापनादि करना, अथवा किसीकी मुख्यतावश किसी अन्यकी गौणता करना; अथवा ऐसी जिनप्रतिमाजीकी भी स्थापना-पूजा-भक्ति करना व अन्य कुदेवादिकी भी स्थापना-पूजादि करना- ये समस्त विपरीत अभिनिवेश पूर्वककी प्रवृत्तियाँ हैं।

सद्गुरु, सत्शास्त्र और सत्पुरुषको मानना, भक्ति-विनयादि करना तथा असद्गुरु, असत्शास्त्र व असत्पुरुषको भी मानना, भक्ति-विनय-प्रशंसादि करना - यह भी विपरीत अभिनिवेशका ही प्रकार है।

विद्यमान सत्पुरुषकी अवमानना-गौणता करना और अविद्यमान सत्पुरुषकी मुख्यता करना (देशना आदिके बहाने) अथवा एक सत्पुरुषकी भक्ति-विनयादि करना, परन्तु अन्य सत्पुरुषकी उपेक्षा-गौणताका भाव भी विपरीत अभिनिवेशका ही परिणाम है।

- इत्यादिक अनेक स्थूल व सूक्ष्म विपरीत अभिनिवेशके प्रकार हैं। वे सर्व गृहीत मिथ्यात्वके पोषक व दर्शनमोहकी वृद्धि करनेवाले हैं।

परन्तु, जैसे विपरीत अभिनिवेश रहित नवतत्त्वका ज्ञान सो ही सम्यग्ज्ञान है- वैसे ही मात्र वीतराग देव-शास्त्र-गुरुको ही स्वीकार करनेवाले, उसी प्रकार विद्यमान सत्पुरुषको पहचान कर उन्हें देशनालब्धिका निमित्त जानकर, भव-भ्रमणके अभावका कारण समझकर, अत्यन्त भक्तिपूर्वक वर्तन करनेवालेका दर्शनमोह सहज ही घटता

है और ज्ञानमें स्वरूप-निश्चय होने योग्य निर्मलताकी भूमिका उत्पन्न होती है।

(४८) हीन गुणीका संग किसी भी भूमिकाके साधकके पतनका कारण होता है। जो कुसंग अर्थात् हीन गुणीका संग भी करे और ज्ञानी अथवा विशेष गुणीका संग भी करे उसका सत्संग निष्फल जाता है। दुर्लभतासे प्राप्त ऐसा सत्संग निष्फल जानेका यह कारण (साधारणत:) खयालमें ही नहीं आता। अत: जैसे दर्शनमोह टालने हेतु सत्संगका विशेष महत्त्व है, वैसे ही हीन गुणीके संगकी रुचिकी गुण-प्रगटतासे दूर चले जानेमें महत्वपूर्ण भूमिका है अर्थात् उसकी परिणति पतित हो जाती है।

(४९) तत्त्वज्ञानका अभ्यास होनेपर भी व्यवहारनयका स्थूल या सूक्ष्म पक्ष रहनेसे दर्शनमोह बढ़ता है। परन्तु द्रव्य स्वभावकी पहचान हो तब निश्चयका यथार्थरूपसे पक्ष होनेपर, अर्थात् पक्षरूप पर्यायकी गौणता और स्वभावकी मुख्यता (पक्षमें दक्षता) होनेसे, दर्शनमोह घटता है।

(५०) निश्चयका कृत्रिमरूपसे पक्ष करनेपर, अर्थात् निश्चयकी मात्र विकल्प-वाणीमें ही मुख्यता करनेसे, दर्शनमोह बढ़ता है। परन्तु स्वभावके भाव-भासनसे उत्पन्न महिमा, प्रतिक्षण वृद्धिगत होती स्वरूपमहिमा, अन्तत: पक्षातिक्रांत होनेपर दर्शनमोहका नाश होता है।

(५१) निज स्वभाव लक्ष्यगत होने पर अन्तर्मुखी चैतन्यवीर्यकी स्फुरणा होनेसे दशाकी दिशा बदलती है और जैसे-जैसे पुरुषार्थ बढ़ता है वैसे-वैसे सम्यक्त्व-समीपता होती है। परन्तु यदि बाह्य प्रवृत्तिमें वीर्य उलझता हो अथवा उग्रतासे जुड़ता हो तो स्वभावसे दूर जाना होता है।

(५२) दृष्टिके विषयभूत सामान्यतत्त्वका ज़ोर `यह...मैं' - ऐसा

निज अस्तित्वका ज़ोर दर्शनमोह मन्द करता है। परन्तु विकल्पका ज़ोर विकल्पमयता प्राप्त कराकर निर्विकल्पतासे दूर ले जाता है।

(५३) जैसे-जैसे स्वरूपके ग्रहण करनेकी ज्ञान-सामर्थ्य बढ़ती जाती है वैसे-वैसे दर्शनमोह शिथिल होता जाता है। परन्तु स्वरूप-ग्रहणके पुरुषार्थके अभावमें उपयोग स्थूल होता जाता है, परिणतिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, अर्थात् पर रसवाली परिणति यथावत् चालू रहती है, जिसमें पर-रस वृद्धिगत होता है।

(५४) दर्शनमोहके कारण जीव पर्यायदृष्टिसे पर्यायको ही देखा करता है, अनेकों प्रकारकी पर्यायमें ही अधिकता रहा करती है। जबकि स्वभावरस / चिद्रसवाली परिणतिमें किसी भी आलम्बन बिना (विभावरसकी मन्दतारूप पूर्व पर्यायके भी आलम्बन बिना) स्वतन्त्र धुन, और निर्विकल्प स्वभावके लक्ष्यका ज़ोर चलने पर पर्यायदृष्टि नहीं रहती।

(५५) ज्ञेयाकार ज्ञानकी मुख्यता, अर्थात् ज्ञेय-लुब्धता, दर्शनमोहको बढ़ाती है। परन्तु `सामान्य' के आविर्भावसे ज्ञानमें / वेदनमें निजत्व होनेपर स्वसंवेदन उत्पन्न होता है, तब दर्शनमोहका नाश होता है।

(५६) साधनकी भूल भी मिथ्यात्वको दृढ़ करती है। क्योंकि प्राय: मन, वचन और कायके योगरूप परिणामादि किसी न किसी बाधकभावमें साधनकी कल्पना रहा करती है जबकि अन्तर्मुख होनेमें तो ज्ञान ही साधन है। यों यथार्थ रूपसे साधनका स्वीकार होने पर प्रयत्न `मात्र ज्ञानरूप' स्थानमें ही केन्द्रित होनेसे दर्शनमोह घटता है।

(५७) चारों अनुयोगोंमेंसे किसी एक अनुयोगके विशेष क्षयोपशमके कारण, पक्षपातरूप राग होनेसे, किसी अन्य अनुयोगके प्रति स्थूल अथवा सूक्ष्मरूपसे निषेध अथवा तिरस्कार / अनादर होना दर्शनमोहकी

वृद्धिका कारण है। परन्तु यथार्थ भूमिकामें तो चारों ही अनुयोगोंका अपने-अपने स्थानमें यथारूप मूल्य है - ऐसा सुस्पष्ट समझमें आता है व उन सबका तात्पर्य वीतरागता जाननेमें आती है जो दर्शनमोहको मन्द करती है।

(५८) सम्यक्दर्शनादि अध्यात्म दशाओंकी महिमा सर्व सत्शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। वह महिमा तो त्रिकाली परमात्मस्वरूपप्रतिके ज़ोरसे प्रगट हुई है। ऐसी यथार्थ महिमा आनेके बदले महिमा करनेवाले जीवका यदि मात्र पर्याय पर ही ज़ोर रहा करे तो उसके पर्यायका एकत्व छूटनेके बजाय दृढ़ होता है और तब दर्शनमोह नहीं टूटता; परन्तु त्रिकालीके लक्ष्यपूर्वक ध्रुव स्वभावकी महिमा / ज़ोर होनेपर दर्शनमोह टूटता है और यथार्थरूपसे अध्यात्मदशाकी महिमा वर्तती है।

दर्शनमोहके कारण जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्गसे विमुख वर्तनमें वेगवान होता है, उसका पुरुषार्थ विपरीततामें बलवान होता है और उसे आत्म-स्वभावके प्रति रुचि नहीं होती; वह जीव निज-हितका विचार नहीं कर सकता वरन् अहितरूप भावोमें रचा-पचा रहता है। शास्त्रकर्ता कहते हैं कि जीवका स्वभाव तो सम्यक्रूपसे परिणमित होनेका होने पर भी दर्शनमोहसे मूर्छित होकर वह मिथ्यात्वभावसे परिणमन करता है। इस प्रकार दर्शनमोहको स्वभावका घातकभाव जानकर, तद्सम्बन्धी अनेक पहलुओंको लक्ष्यमें रखते हुए ही आत्मार्थी जीवको धर्मप्रवृत्तिमें प्रवृत्त होना योग्य है, अन्यथा संसारसे छूटनेके बदले संसार-वृद्धिका कारण होनेकी सम्भावना रहती है। - अस्तु !

श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)

	ग्रंथ का नाम एवं विवरण	मूल्य
०१	अनुभव प्रकाश (ले. दीपचंदजी कासलीवाल)	-
०२	आत्मयोग (श्रीमद् राजचंद पत्रांक-४६९, ४९१, ६०९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
०३	अनुभव संजीवनी (पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखे गये वचनामृत्तोंका संकलन)	१५०-००
०४	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन (पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा)	५०-००
०५	आत्मअवलोकन	-
०६	बृहद द्रव्यसंग्रह	अनुपलब्ध
०७	द्रव्यदृष्टिप्रकाश (तीनों भाग-पूज्य श्री निहालचंदजी सोगानीजीके पत्र एवं तत्वचर्चा)	३०-००
०८	दूसरा कुछ न खोज (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०६-००
०९	दंसणमूलो धम्मा (सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार)	०६-००
१०	धन्य आराधना (श्रीमद राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्म दशा पर ॅ पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	-
११	दिशा बोध (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१६६, ४४९, ५७२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१२	धन्य पुरुषार्थी	-
१३	धन्य अवतार	-
१४	गुरु गुण संभारणा (पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन द्वारा गुरु भक्ति)	१५-००
१५	गुरु गिरा गौरव	-
१६	जिणसासणं सव्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०८-००
१७	कुटुम्ब प्रतिबंध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१०३,३३२,५१०, ५२८,५३७ एवं ३७४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१८	कहान रत्न सरिता (परमागमसारके विभिन्न वचनामृतों पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	३०-००
१९	मूलमें भूल (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन)	०८-००
२०	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	-

२१	मुक्तिका मार्ग (सत्ता स्वरूप ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचन)	१०-००
२२	निर्भ्रांत दर्शनकी पगडंडी (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	१०-००
२३	परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनामृत्त)	-
२४	प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	०४-००
२५	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१९५, १२८, २६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
२६	प्रवचन नवनीत (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२७	प्रवचन नवनीत (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२८	प्रवचन नवनीत (भाग-३) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ नय के खास प्रवचन)	२०-००
२९	प्रवचन नवनीत (भाग-४) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ शक्ति के खास प्रवचन)	२०-००
३०	प्रवचन सुधा (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३१	प्रवचन सुधा (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३२	प्रवचनसार	अनुपलब्ध
३३	प्रंचास्तिकाय संग्रह	अनुपलब्ध
३४	सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक)	१५-००
३५	ज्ञानामृत्त (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से चयन किये गये वचनामृत्त)	-
३६	सम्यग्दर्शनके सर्वोत्तकृष्ट निवासभूत छ पदोंका अमृत पत्र (श्रीमद रादचंद्र पत्रांक-४९३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	१८-००
३७	सिद्धिपका सर्वश्रेष्ठ उपाय (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से पत्रांक-१४७,१९४, २००,५११,५६० एवं ८१९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
३८	सुविधि दर्शन (सुविधि लेख पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	४०-००
३९	समयसार नाटक	अनुपलब्ध
४०	समयसार कलस टीका	अनुपलब्ध
४१	समयसार	अनुपलब्ध
४२	तत्त्वानुशीलन (भाग-१,२,३) (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	२०-००
४३	तत्थ्य	अनुपलब्ध
४४	विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनामृत्तोंका संकलन)	१०-००
४५	वचनामृत्त रहस्य (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके नाईरौबीमें हुए प्रवचन	२०-००

-

વીતરાગ સત્‌સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ
ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

	ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ	મૂલ્ય
૦૧	અધ્યાત્મિકપત્ર (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો)	૦૨-૦૦
૦૨	અધ્યાત્મ સંદેશ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૦૩	આત્મયોગ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૫૯૬, ૪૯૧, ૬૦૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૦૪	અનુભવ સંજીવની (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૧૫૦-૦૦
૦૫	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૧) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૬	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૨) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૭	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૩) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૮	અધ્યાત્મ પરાગ	-
૦૯	બીજું કાંઈ શોધમા (પ્રત્યક્ષ સત્પુરુષ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	-
૧૦	બૃહદ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૧) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો)	-
૧૧	બૃહદ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૨) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો)	-
૧૨	ભગવાન આત્મા (દ્રષ્ટિ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	-
૧૩	દ્વાદશ અનુપ્રેક્ષા (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુંદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત	૦૨-૦૦
૧૪	દ્રવ્યદ્રષ્ટિ પ્રકાશ (ભાગ-૩) (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદજી સોગાની તત્ત્વચર્ચા)	૦૪-૦૦
૧૫	દસ લક્ષણ ધર્મ (ઉત્તમ ક્ષમાદિ દસ ધર્મો પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીનાં પ્રવચનો)	૦૬-૦૦
૧૬	ધન્ય આરાધના (શ્રીમદ રાજચંદ્રજીની અંતરંગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન)	૧૦-૦૦
૧૭	દિશા બોધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી પત્રાંક-૧૬૬,૪૪૯,અને ૫૭૨ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા પ્રવચનો)	૧૦-૦૦
૧૮	ગુરુ ગુણ સંભારણા (પૂજ્ય બહેનશ્રીના શ્રીમુખેથી સ્ફુરિત ગુરુભક્તિ)	૦૫-૦૦
૧૯	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (પૂજ્ય સૌગાનીજીની અંગત દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૦	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૧) (દ્રવ્યદ્રષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૧	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૨) (દ્રવ્યદ્રષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦

૨૨	જિણસાસણં સવ્વં (જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૦૮-૦૦
૨૩	કુટુંબ પ્રતિબંધ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૦૩, ૩૩૨, ૫૧૦, ૫૨૮, ૫૩૭ તથા ૩૭૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૩	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૧) (પરમાગમસારમાંથી ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃત્તો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૪	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૨) (પરમાગમસારમાંથી ક્રમબદ્ધ પર્યાય વિષયક ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃત્તો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૨૫	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૧) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૬	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૨) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૭	ક્રમબદ્ધપર્યાય	-
૨૮	મુમુક્ષતા આરોહણ ક્રમ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૨૫૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૧૫-૦૦
૨૯	નિર્ભ્રાંત દર્શનની કેડીએ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૧૦-૦૦
૩૦	પરમાત્મપ્રકાશ (શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત)	૧૫-૦૦
૩૧	પરમાગમસાર (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત્ત)	૧૧-૨૫
૩૨	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૧) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૩૩	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૨) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૩૪	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૩) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૩૫	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૪) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય શક્તિઓ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૭૫-૦૦
૩૬	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૧) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૬૫-૦૦
૩૭	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૨) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	-
૩૮	પ્રયોજન સિદ્ધિ (લે. પૂજ્યભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૦૩-૦૦
૩૯	પથ પ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૪૦	પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૪૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૨) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૮૫-૦૦
૪૩	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૩) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૪	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૪) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૫	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૫) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૬	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૬) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૭	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૭) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૪૮	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૮) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦

૪૯	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૯) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૦	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૦) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૨	પ્રવચનસાર	અનુપલબ્ધ
૫૩	પ્રચારિસ્તકાય સંગ્રહ	અનુપલબ્ધ
૫૪	પદ્મનંદીપંચવિંશતી	-
૫૫	પુરુષાર્થ સિદ્ધિ ઉપાય	અનુપલબ્ધ
૫૬	રાજ હૃદય (ભાગ-૧) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૭	રાજ હૃદય (ભાગ-૨) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૮	રાજ હૃદય (ભાગ-૩) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૯	સમ્યક્જ્ઞાનદીપિકા (લે. શ્રી ધર્મદાસજી ક્ષુલ્લક)	૧૫-૦૦
૬૦	જ્ઞાનામૃત્ત (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલા વચનામૃત્તો)	૦૬-૦૦
૬૧	સમ્યગ્દર્શનના નિવાસના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભૂત છ પદનો પત્ર (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૪૯૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૬૨	સિદ્ધપદનો સર્વશ્રેષ્ઠ ઉપાય (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૪૭, ૧૯૪, ૨૦૦, ૫૧૧, ૫૬૦ તથા ૮૧૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૩	સમયસાર દોહન (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજી સ્વામીના નાઈરોબીમાં સમયસાર પરમાગમ ઉપર થયેલાં પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૬૪	સુવિધિદર્શન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત સુવિધિ લેખ ઉપર તેમનાં પ્રવચન)	૨૫-૦૦
૬૫	સ્વરૂપભાવના (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૯૧૩, ૭૧૦ અને ૮૩૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૬	સમકિતનું બીજ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી સત્પુરુષની ઓળખાણ વિષયક પત્રાંક- ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૬૭	તત્ત્વાનુશીલન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વિવિધ લેખ)	-
૬૮	વિધિ વિજ્ઞાન (વિધિ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૬૯	વચનામૃત્ત રહસ્ય (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં બહેનશ્રીના વચનામૃત્ત પર થયેલાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૭૦	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૧)	-
૭૧	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૨)	-
૭૨	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૩)	-
૭૩	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૪)	-
૭૪	યોગસાર	અનુપલબ્ધ
૭૫	ધન્ય આરાધક	-

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्टमें से प्रकाशित हुई पुस्तकोंकी प्रत संख्या

०१	प्रवचनसार (गुजराती)	१५००
०२	प्रवचनसार (हिन्दी)	४२००
०३	पंचास्तिकायसंग्रह (गुजराती)	१०००
०४	पंचास्तिकाय संग्रह (हिन्दी)	२५००
०५	समयसार नाटक (हिन्दी)	३०००
०६	अष्टपाहुड (हिन्दी)	२०००
०७	अनुभव प्रकाश	२१००
०८	परमात्मप्रकाश	४१००
०९	समयसार कलश टीका (हिन्दी)	२०००
१०	आत्मअवलोकन	२०००
११	समाधितंत्र (गुजराती)	२०००
१२	बृहद द्रव्यसंग्रह (हिन्दी)	३०००
१३	ज्ञानामृत (गुजराती)	१०,०००
१४	योगसार	२०००
१५	अध्यात्मसंदेश	२०००
१६	पद्मनंदीपंचविंशती	३०००
१७	समयसार	३१००
१८	समयसार (हिन्दी)	२५००
१९	अध्यात्मिक पत्रो (पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी द्वारा लिखित)	३०००
२०	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (गुजराती)	१०,०००
२१	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (हिन्दी)	६६००
२२	पुरुषार्थसिद्दिउपाय (गुजराती)	६१००
२३	क्रमबद्धपर्याय (गुजराती)	८०००
२४	अध्यात्मपराग (गुजराती)	३०००
२५	धन्य अवतार (गुजराती)	३७००
२६	धन्य अवतार (हिन्दी)	८०००
२७	परमामगसार (गुजराती)	५०००
२८	परमागमसरा (हिन्दी)	४०००
२९	वचनामृत प्रवचन भाग-१-२	५०००

३०	निर्भ्रांत दर्शननी केडीए (गुजराती)	५०००
३१	निर्भ्रांत दर्शनकी पगडंडी (हिन्दी)	७०००
३२	अनुभव प्रकाश (हिन्दी)	२०००
३३	गुरुगुण संभारणा (गुजराती)	३०००
३४	जिण सासणं सव्वं (गुजराती)	२०००
३५	जिण सासणं सव्वं (हिन्दी)	२०००
३६	द्वादश अनुप्रेक्षा (गुजराती)	२०००
३७	दस लक्षण धर्म (गुजराती)	२०००
३८	धन्य आराधना (गुजराती)	१०००
३९	धन्य आराधना (हिन्दी)	१५००
४०	प्रवचन नवनीत भाग-१-४	५८५०
४१	प्रवचन प्रसाद भाग-१-२	२३००
४२	पथ प्रकाश (गुजराती)	२०००
४३	प्रयोजन सिद्धि (गुजराती)	३५००
४४	प्रयोजन सिद्धि (हिन्दी)	२५००
४५	विधि विज्ञान (गुजराती)	२०००
४६	विधि विज्ञान (हिन्दी)	२०००
४७	भगवान आत्मा (गुजरात+हिन्दी)	३५००
४८	सम्यक्ज्ञानदीपिका (गुजराती)	१०००
४९	सम्यक्ज्ञानदीपिका (हिन्दी)	१५००
५०	तत्त्वानुशीलन (गुजराती)	४०००
५१	तत्त्वानुशीलन (हिन्दी)	२०००
५२	बीजुं कांई शोध मा (गुजराती)	४०००
५३	दूसरा कुछ न खोज (हिन्दी)	२०००
५४	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (गुजराती)	२५००
५५	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (हिन्दी)	३५००
५६	अमृत पत्र (गुजराती)	२०००
५७	अमृत पत्र (हिन्दी)	२५००
५८	परिभ्रमणना प्रत्याख्यान (गुजराती)	१५००
५९	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (हिन्दी)	२५००
६०	आत्मयोग (गुजराती)	१५००
६१	आत्मयोग (हिन्दी)	३०००
६२	अनुभव संजीवनी (गुजराती)	१०००

६३	अनुभव संजीवनी (हिन्दी)	१०००
६४	ज्ञानामृत (हिन्दी)	२५००
६५	वचनामृत रहस्य	१०००
६६	दिशा बोध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
६७	कहान रत्न सरिता (हिन्दी-गुजराती)	२५००
६८	प्रवचन सुधा (भाग-१)	१४००
६९	कुटुम्ब प्रतिबंध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७०	सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (हिन्दी-गुजराती)	३०००
७१	गुरु गिरा गौरव (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७२	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन	७५०
७३	प्रवचन सुधा (भाग-२)	७५०
७४	समयसार दोहन	७५०
७५	गुरु गुण संभारणा	७५०
७६	सुविधिदर्शन	१०००
७७	समकितनुं बीज	१०००
७८	स्वरूपभावना	१०००
७९	प्रवचन सुधा (भाग-३)	१०००
८०	प्रवचन सुधा (भाग-४)	१०००
८१	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-१	१०००
८२	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-२	१०००
८३	सुविधि दर्शन (हिन्दी)	१०००
८४	प्रवचन सुधा (भाग-५)	१०००
८५	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-१)	१०००
८६	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-२)	१०००
८७	वचनामृत रहस्य (हिन्दी)	१०००
८८	प्रवचन सुधा (भाग-६)	१०००
८९	राज हृदय (भाग-१)	१५००
९०	राज हृदय (भाग-२)	१५००
९१	अध्यात्मसुधा (भाग-१)	१०००
९२	अध्यात्मसुधा (भाग-२)	१०००
९३	गुरु गिरा गौरव (भाग-१)	१०००
९४	अध्यात्म सुधा (भाग-३)	१०००

९५	प्रवचन सुधा (भाग-७)	७५०
९६	प्रवचन सुधा (भाग-८)	७५०
९७	राज हृदय (भाग-३)	७५०
९८	मुक्तिनो मार्ग (गुजराती(	१०००
९९	प्रवचन नवनीत (भाग-३)	१०००
१००	प्रवचन नवनीत (भाग-४)	१०००
१०१	प्रवचन सुधा (भाग-९)	७५०
१०२	गुरु गिरा गौरव (भाग-२)	७५०
१०३	प्रवचन सुधा (भाग-२) हिन्दी	१०००
१०४	प्रवचन सुधा (भाग-१०) (गुजराती)	७५०
१०५	प्रवचन सुधा (भाग-११) (गुजराती)	७५०
१०६	धन्य आराधक (गुजराती)	७५०

पाठकों की नोंध के लिये

पाठकों की नोंध के लिये

परम कृपालुदेवाय नमः

परम कृपालुदेव श्रीमद् रा□ा□ान्द्र□ीका आध्यात्मिक □ीवन परि□ाय एवं गुण संकीर्तन

श्रीमद् राजचन्द्रका जन्म सवंत् १९२४ कार्तिक सुदी पूर्णिमा, रविवार रातको २ बजे ववाणिया गाँव (काठियावाड़) में हुआ था । वे बचपन से ही जातिस्मरण तथा अनेक ज्ञानके धनी थे ।

श्रीमद् राजचंद्र ऐसे विरल स्वरूपनिष्ठ तत्त्ववेत्ताओमेंसे एक थे। श्रीमद् राजचंद्र यानी अध्यात्मगगनमें झिलमिलाती हुई अदभुत् ज्ञानज्योति, मात्र भारतकी ही नहीं, अपितु विश्वकी एक विरल विभूति, अमूल्य आत्मज्ञानरूप दिव्यज्योतिके जाज्वल्यमान प्रकाशसे, पूर्वमहापुरूषों द्वारा प्रकाशित सनातन मोक्षमार्गका उद्योतकर भारतकी पुनीत पृथ्वीको विभूषित कर इस अवनीतलको पावन करनेवाले परम ज्ञानावतार, ज्ञाननिधान, ज्ञानभास्कर, ज्ञानमूर्ति !

शास्त्रके ज्ञाता तथा उपदेशक तो हमें अनेक मिल जायेंगे परन्तु जिनका जीवन ही सत्शास्त्रका प्रतीक हो ऐसी विभूति प्राप्त होना दुर्लभ है। श्रीमद् राजचन्द्रके पास तो जाज्वल्यमान आत्मज्ञानमय उज्जवल जीवनका अंतरंग प्रकाश था और इसीलिये इन्हें अद्भुत अमृतवाणीकी सहज स्फुरणा थी।

महात्मा गाँधीजी लिखते हैं :-

``मेरे जीवनको श्रीमद् राजचन्द्रने मुख्यतया प्रभावित किया है । महात्मा टोल्स्टोय तथा रस्किनकी अपेक्षा भी श्रीमद्ने मेरे जीवन पर गहरा असर किया है । बहुत बार कह और लिख गया हूँ कि मैंने बहुतोंके जीवनमेंसे बहुत कुछ लिया है; परन्तु सबसे अधिक किसीके जीवनसे मैंने ग्रहण किया हो तो वह कवि (श्रीमद् राजचन्द्र) के जीवनसे है । .....

परमकृपालुदेवकी विशेषताओंका दर्शन तीन विभागमें कर सकते हैं ।

१. उनकी अभ्यंतर अध्यात्मदशाकी विशेषताएँ,

२. उस अध्यात्मदशाके साथ ही साथ प्रवर्तित उच्च / आदर्श व्यवहारिक परिणामोंकी, विशेषताएँ, और

३. तीर्थंकरदेवके मूलमार्गको प्रकाशित करनेकी शक्तिरूप विशेषताएँ ।

इन तीनों प्रकारकी विशेषताओंका उल्लेख, उनके ही वर्तन व वचनामृतोंसे करने योग्य है; और इस तरह उसे प्रतीत करने योग्य है, भक्ति करने योग्य है ।

❁ **परम निःस्पृहता :-** परिपूर्ण आत्मस्वरूपके अवलबंनपूर्वक सर्व बाह्य पदार्थोंके प्रति अपेक्षाबुद्धि विलय होती है; जगतके किसी भी पदार्थकी स्पृहा नहीं रहती । इतना ही नहीं स्वस्वरूपदृष्टिकी मस्तीमें तो भावी मोक्ष-पर्यायकी भी अपेक्षा नहीं रहती है । ऐसे आशयको प्रकाशित करता हुआ उनका वचनामृत पत्रांक १६५में है कि ``**इस ज्ञानकी दिन प्रतिदिन इस आत्माको भी विशेषता होती जाती है । मैं मानता हूँ कि केवलज्ञान तकका परिश्रम व्यर्थ तो नहीं जायेगा । हमें मोक्षकी कोई जरूरत नहीं है ।**''

❁ **अद्‌भुत विदेहीदशा :-** ज्ञानदशाके प्रारंभसे ही उन्हें परिणतिमें स्वरूपमें समा जानेकी लय लगी थी । और उन्होंने बाह्य धर्म-प्रभावनाके परिणामोंको गौण करके निश्चयधर्मकी प्रधानता की है, यह स्पष्ट दिखनेमें आता है । इसके संदर्भमें उल्लेख पत्रांक १७६में प्राप्त है : ``**एक ओर तो परमार्थमार्गको शीघ्रतासे प्रगट करनेकी इच्छा है, और एक ओर अलख `लय' में समा जानेकी इच्छा रहती है.... । अद्‌भुतदशा निरन्तर रहा करती है । अवधूत हुए हैं,....**'' इसके अलावा उन्होंने पत्रांक-२५५में स्वयंकी अंतरंगदशा इन शब्दोंमें प्रकाशित की है : ``**एक पुराणपुरुष और पुराणपुरुषकी प्रेमसंपत्तिके बिना हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता; हमें किसी पदार्थमें रुचि मात्र नहीं रही है; कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं**

होती; व्यवहार कैसे चलता है इसका भान नहीं हैं; जगत किस स्थितिमें है इसकी स्मृति नहीं रहती; शत्रु-मित्रमें कोई भेदभाव नहीं रहा, हम देहधारी हैं या नहीं इसे जब याद करते हैं तब मुश्किलसे जान पाते हैं, ...संपत्ति पूर्ण है इसलिए संपत्तिकी इच्छा नहीं है; ...हृदय प्राय: शून्य जैसा हो गया है: पाँचों इन्द्रियाँ शून्यरूपसे प्रवृत्त होती रहती हैं । नय, प्रमाण इत्यादि शास्त्रभेद याद नहीं आते; कुछ पढ़ते हुए चित्त स्थिर नहीं रहता; खानेकी, पीनेकी, बैठनेकी, सोनेकी, चलनेकी और बोलनेकी वृत्तियाँ अपनी इच्छा अनुसार प्रवृत्ति करती रहती हैं।" इत्यादि वचन, उनकी अद्‌भुत विदेहीदशाको प्रकाशित करते हैं । पुन: उनके चित्तकी आत्माकार स्थितिका उल्लेख पत्रांक-३९८में देखनेको मिलता है : ``**आत्माकार स्थिति हो जानेसे चित्त प्राय: एक अंश भी उपाधियोगका वेदन करने योग्य नहीं है ।**"

❁ **अपूर्व वीतरागता :-** मोक्षमार्गके प्रारंभमें उनकी साधनामें जो अपूर्व वीतरागता प्रगट हुई थी उसका उल्लेख पत्रांक-३१३ में इस प्रकारसे किया है : ``**कोई इस प्रकारका उदय है कि अपूर्व वीतरागताके होनेपर भी हम व्यापार सम्बन्धी कुछ प्रवृत्ति कर सकते हैं, तथा खाने-पीने आदिकी अन्य प्रवृत्तियाँ भी बड़ी मुश्किलसे कर पाते हैं । मन कहीं भी विराम नहीं पाता....चित्तका भी अधिक संग नहीं है, और आत्मा आत्मभावमें रहता है । समय-समयपर अनंतगुणविशिष्ट आत्मभाव बढ़ता हो ऐसी दशा रहती है ।**" इसके अलावा उनके वचनामृत पत्रांक ३१७ में इस प्रकार लिखा है : ``**चित्त प्राय: वनमें रहता है, आत्मा तो प्राय: मुक्तस्वरूप लगता है । वीतरागता विशेष है । ....जगतसे बहुत उदास हो गये हैं । बस्तीसे तंग आ गये हैं**"....इत्यादि ।

❁ **अलौकिक स्वरूप जागृति :-** गृहस्थदशा व अनेक प्रकारके व्यावसायिक प्रसंगोंके बीच भी उनकी अलौकिक स्वरूप जागृति स्पष्टरूपसे उभरकर आती है । उस जागृतिके वश स्वयंके सूक्ष्म परिणामोंका अवलोकन करते हुए, उस विषयको उन्होंने अनेक पत्रोंमें असाधारणरूपमें व्यक्त

किया है । ऐसी जागृतिका उल्लेख, आराधक पुरुषोंके पुरूषार्थको स्मरणमें लेते हुए पत्रांक-७८८ में इस प्रकारसे करते हैं : ``**असारभूत व्यवहारको सारभूत प्रयोजनकी भाँति करनेका उदय रहनेपर भी जो पुरुष उस उदयसे क्षोभ न पाकर सहजभाव स्वधर्ममें निश्चलतासे रहे हैं, उन पुरुषोंके भीष्मव्रतका वारंवार स्मरण करते हैं ।**''

❁ **अदम्य पुरुषार्थ :-** कृपालुदेवके जीवनकी परिणमनकी यह ऐसी कोई असाधारण विलक्षणता थी जो कि उनके प्रबल पुरुषार्थको प्रकाशित करती है । उन्होंने करीब १० सालके साधक जीवनमें ही अदम्य पुरुषार्थसे संसारको केवल एक भव तक सीमित करके निर्वाणपदकी समीपताको संप्राप्त किया है । जिसका उल्लेख उन्होंने अपने आभ्यंतर परिणाम अवलोकन संस्मरणपोथी १/३८ में इन शब्दोंमें किया है : ``**वैश्यवेषसे और निर्ग्रंथभावसे रहते हुए कोटि-कोटि विचार हुआ करते हैं । ...निर्ग्रंथभावमें रहता हुआ चित्त उस व्यवहारमें यथार्थ प्रवृत्ति न कर सके यह भी सत्य है; जिसके लिये इन दो प्रकारकी एक स्थितिसे प्रवृत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रथम प्रकारसे प्रवृत्ति करते हुए निर्ग्रंथभावसे उदास रहना पड़े तो ही यथार्थ व्यवहारकी रक्षा हो सकती है, ...उस व्यवहारका त्याग किये बिना अथवा अत्यंत अल्प किये बिना निर्ग्रंथता यथार्थ नहीं रहती, और उदयरूप होनेसे व्यवहारका त्याग नहीं किया जाता । ये सर्व विभाव-योग दूर हुए बिना हमारा चित्त दूसरे किसी उपायसे संतोष प्राप्त करे, ऐसा नहीं लगता । उस विभावरूपसे रहनेवाले आत्मभावको बहुत परिक्षीण किया है, और अभी भी वही परिणति रहती है । उस संपूर्ण विभावयोगको निवृत्त किये बिना चित्त विश्रांतिको प्राप्त हो ऐसा नहीं लगता ।**''''

उनका पुरुषार्थ तो वर्तमान भवमें ही पूर्ण दशा प्राप्त करनेका था । और उसके लिये पुरुषार्थ भी उन्होंने तीव्र रूपसे उठाया था जिसका उल्लेख उनके अंतिम वचनामृत पत्रांक-९५१ में देखनेको मिलता है : ``**अति त्वरासे प्रवास पूरा करना था । वहाँ बीचमें सहराका रेगिस्तान**

सम्प्राप्त हुआ । सिरपर बहुत बोझ (पूर्वकर्मका) रहा था उसे आत्मवीर्यसे जिस तरह अल्पकालमें वेदन कर लिया जाये उस तरह योजना करते हुए पैरोंने निकाचित उदयमान थकान ग्रहण की । जो (वस्तु) स्वरूप है वह अन्यथा नहीं होता।"यह और ऐसे अनेक तीव्र पुरुषार्थ द्योतक भावोंका दर्शन उनके वचनामृतोंमें होता है । और उनके कड़े पुरुषाार्थको देखते हुए मस्तक सहज ही झुक जाता है ।

❁ **सम्यक् औदासीन्यवृत्ति :-** ज्ञानदशाके साथ अविनाभावीरूपसे उत्पन्न होनेवाला वैराग्य उनकी आराधक दशाके पहले भी व बादमें भी प्रबल था । जिसका दर्शन उनके अनेक पत्रोंमें होता है । वे पत्रांक-४१४ में लिखते हैं कि :- ``**गृहस्थ प्रत्ययी प्रारब्ध जब तक उदयमें रहे तब तक 'सर्वथा' अयाचकताका सेवन करनेवाला चित्त रहनेमें ज्ञानीपुरूषोंका मार्ग निहित है, इस कारण इस उपाधियोगका सेवन करते हैं । यदि उस मार्गकी उपेक्षा करें तो भी ज्ञानीका अपराध नहीं करते, ऐसा है, फिर भी उपेक्षा नहीं हो सकती । यदि उपेक्षा करें तो गृहस्थाश्रमका सेवन भी वनवासीरूपसे हो, ऐसा तीव्र वैराग्य रहता है । सर्व प्रकारके कर्तव्यके प्रति उदासीन ऐसे हमसे कुछ हो सकता है तो एक यही हो सकता है कि पूर्वोपार्जितका समताभावसे वेदन करना; और जो कुछ किया जाता है वह उसके आधारसे किया जाता है, ऐसी स्थिति है।**" और पत्रांक-५०८ में उनके द्वारा व्यक्त उद्‌गारको मुमुक्षुजीवको हृदयंगम करने योग्य है : ``**यह संसार किसी प्रकारसे रुचियोग्य प्रतीत नहीं होता; प्रत्यक्ष रसरहित स्वरूप ही दिखायी देता है; ... वारंवार संसार भयरूप लगता है । भयरूप लगनेका दूसरा कोई कारण प्रतीत नही होता, मात्र इसमें शुद्ध-आत्मस्वरूपको अप्रधान रखकर प्रवृत्ति होती है, जिससे बड़ी परेशानी रहती है, और नित्य छूटनेका लक्ष्य रहता है । तथा तद्‌नुसारी दूसरे अनेक विकल्पोंसे कटु लगनेवाले इस संसारमें बरबस स्थिति है ।**" पुन: उनके वचनामृत पत्रांक - २१४ में द्रष्टव्य है : ``**हमें तो ऐसा लगता है कि इस जगतके प्रति हमारा**

परम उदासीन भाव रहता है; वह बिलकुल सोनेका हो तो भी हमारे लिये तृणवत् है ।'' कृपालुदेवकी अंतर भावनाका दर्शन पत्रांक २१७ में होता है- वे लिखते हैं कि : ``**वनवासकी वारंवार इच्छा हुआ करती है । यद्यपि वैराग्य तो ऐसा रहता है कि प्राय: आत्माको घर और वनमें कोई भेद नहीं लगता,... वारंवार यही रटन रहनेसे `वनमें जाये" `वनमें जाये" ऐसा मनमें हो आता है ।**''

❁ **अदीन वृत्ति :-** ज्ञानदशामें निज परमेश्वरपदका अवलंबन रहने से ज्ञानीपुरुषको कहीं भी किसी प्रसंगमें दीनता सहजरूपसे ही नहीं होती है । तद्उपरांत उदयके प्रति उपेक्षा व असावधानी रहने पर भी भविष्यकी कोई चिंता नहीं होती है । ऐसी ज्ञानदशाकी विलक्षणता है । क्योंकि सभी अज्ञानी जीवोंको भविष्यकी चिंताके आगे वर्तमानमें आत्महितका पुरुषार्थ हो ही नहीं पाता । इस संदर्भमें उनके वचनामृत पत्रांक २१७ में इस प्रकारसे है, जिसका मुमुक्षुजीव को अवधारन करना योग्य है : ``**उदयकर्म भोगते हुए दीनता अनुकूल नहीं है । भविष्यके एक क्षणका भी प्राय: विचार भी नहीं रहता ।**''

❁ **समदर्शिता :-** उनके विचारोंमें शुरूसे ही सभी आत्माओंके प्रति समदृष्टि रखनेका अभिप्राय था । जिसका दर्शन १७ वें वर्षमें रचित `अमूल्य तत्त्वविचार' काव्यमें होता है । `**सर्वात्ममां समदृष्टि द्यो; आ वचनने हृदये लखो**' इसके अलावा पत्रांक ४६९ में वे लिखते हैं कि ``**जैसी दृष्टि इस आत्माके प्रति है, वैसी दृष्टि जगतके सर्व आत्माओंके प्रति है ।... जैसी इस आत्माकी सहजानंद स्थिति चाहते हैं, वैसी ही सर्व आत्माओंकी चाहते हैं । जो-जो इस आत्माके लिये चाहते हैं, वह सब सर्व आत्माओंके लिये चाहते हैं। जैसा इस देहके प्रति भाव रखते हैं, वैसा ही सर्व देहोंके प्रति भाव रखते हैं**'' इत्यादि प्रकारसे इस पत्रमें उनके समदर्शित्वके गुण को प्रगट करते हुए अनेक पहलू प्रकाशित हुए हैं । जो कि जैनदर्शनकी विशालताको प्रदर्शित करते हैं ।

❁ **प्रशम दशा :-** उनकी प्रशम मुद्राके प्रत्यक्ष दर्शन जिन मुमुक्षुओंने किये होगे, उन्हें वास्तवमें भाग्यशाली गिनना चाहिये । किंतु उनकी छविमें (जो कि महान् सद्भाग्यसे उपलब्ध है उसमें) आज भी उनकी प्रशमता अभिव्यक्त होती है । इस प्रकारकी प्रशमता ज्ञानीपुरुषकी बाह्याभ्यंतरदशाका एक प्रगट लक्षण है । और वह प्रयोगात्मक रूपसे ज्ञानदशाका बोध करानेवाला है । कृपालुदेवकी प्रशमदशा तो वास्तवमें अभिवंदनीय है ।

❁ **जितेन्द्रियता :-** वर्तमानकालके आयुष्यकी स्थितिका विचार करते हुए, कुमार अवस्था, युवावस्थाके प्रारंभकाल व युवावस्थाकी मध्यम स्थितिमें उनके जीवनका अवलोकन करने पर उनकी असाधारण जितेन्द्रियताका हमें दर्शन हो सकता है । पंचेन्द्रिय के विषयके प्रति उनके विचारको देखते हुए `अप्रतिम वैराग्य' उनके वचनोंमें जगह-जगह देखने को मिलता है । जीवनके उत्तरार्धमें तो उन्होंने जैसे भर जुवानीमें सर्वसंग परित्याग किया हो वैसे आहार आदिका संक्षेप भी कर दिया था । किसी भी इन्द्रियके विषयने उन्हें आकर्षित किया हो, ऐसा ढूँढ़ने जाये तो भी नहीं मिले ऐसा है । संक्षेपमें ऐसा अवश्य कह सकते हैं कि, वे गृहस्थवेशमें भी एक महान योगिराज थे ।

❁ **सहजता :-** सहज आत्मस्वरूपके साथ अभेद भावसे वर्तती ज्ञानीपुरुषकी दशामें सहजता उत्पन्न हो जाती है । जो कि ज्ञानदशाके अनेक मुख्य लक्षणोंमे से एक मुख्य लक्षण है । कृपालुदेवकी दशामें भी सहजता जगह-जगह देखनेको मिलती है । जिसका उल्लेख उन्होंने पत्रांक ६१९ में किया है : ``**....जो सहजमें बन आये उसे करनेकी परिणति रहती है;**'' यानी कि वैसी परिणतिमें सहजता करनी नहीं पड़ती बल्कि आराधक दशाके कारण ऐसी सहजता उत्पन्न हो जाती है ।

❁ **लोकोत्तर सरलता :-** उनकी सरलताका प्रकार तो वास्तवमें वंदनीय है । मुमुक्षुओंसे अत्यंत उच्च कोटिकी ज्ञानदशा को संप्राप्त होनेपर भी, उन्होंने अपने परिणामोंका निवेदन (अस्थिरताके वश अल्पदोषयुक्त हो,

उसे भी) अनेक पत्रोंमें अत्यंत सरलभावसे किया है । जिसका अनुसरण करते हुए कृपालुदेवके जीवनको स्वयं बोधस्वरूप जानकर मुमुक्षुओंने भी अपने दोषोंका निवेदन करनेकी सरलता प्राप्त की थी । शिष्य अगर ज्ञानी सद्गुरुके आगे अपने दोषोंका निवेदन करे, तो वह तो उचित ही है, लेकिन ज्ञानी अपने दोषोंका निवेदन करे, वह तो लोकोत्तर सरलता है । कृपालुदेवके वचनामृतोंमें ऐसी अलौकिक सरलताका दर्शन जगह-जगह होता है ।

❁ **मध्यस्थता :-** कृपालुदेवकी मध्यस्थता असाधारण थी । जिसके प्रभावसे आज भी उनके अक्षरदेहरूप वचनामृतोंसे आकर्षित होकर भिन्न - भिन्न संप्रदायोंसे अनेक पात्र जीव संप्रदायबुद्धिका त्याग करके, मूलमार्गको स्वीकार करने लगे हैं । जैनके अलावा अन्य मत सम्बन्धि उनका पत्रव्यवहार समकालीन प्रख्यात विद्वान् श्री मनसुखराम सुरीराम त्रिपाठी एवं श्री मोहनदास करमचंद गांधी (महात्मा गांधी) के साथ हुआ था, जिसमें उन्होंने अत्यंत मध्यस्थतापूर्ण उनके पत्रोंका प्रत्युत्तर दिया है । जो कि मध्यस्थता प्रगट करनेके लिये मुमुक्षुजीवको वारंवार अनुप्रेक्षा करने योग्य है । आज अनेकानेक जैनेतर लायक मुमुक्षुओंको कृपालुदेवके वचनामुतके प्रति जो बहुमान व भक्ति स्फुरित होती है, वह उनकी मध्यस्थताका प्रबल व जीवंत उदाहरण है । उनका पंद्रह सालकी उम्रमें लिखा हुआ यह वचनामृत (पुष्पमाला-१५) अत्यंत प्रसिद्ध है : ``**तूँ चाहे जिस धर्मको मानता हो, मुझे उसका पक्षपात नहीं है । मात्र कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस मार्गसे संसारमलका नाश हो, उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचार का तूँ सेवन कर ।**'' इस तरह मध्यस्थभावसे किसी भी धर्मकी चर्चा करने पर भी वे असाधारण विचिक्षणतासे मूलमार्ग (-श्री तीर्थंकरदेवके मार्ग) की उत्कृष्टताका प्रतिपादन / स्थापना करनेमें चुके नहीं हैं; अनेक जीवोंको सन्मार्गमें लगाया है । जिसके बदलेमें उनके जितने भी गुणानुवाद करें, कम पड़ते हैं ।

❁ **गुण गंभीरता :-** दुर्लभ एवं महान ज्ञानदशा प्राप्त होने पर भी वे अप्रगट-गुप्त रहना चाहते थे, जिससे बाह्य प्रसिद्धि जो कि मोक्षमार्गके

लिये बहुत प्रतिकूल है, उससे बच सकें । उसका निर्देश पत्रांक-१९२ में मिलता है : ``**इसलिये अनुरोध है कि हम अभी कोई परमार्थज्ञानी हैं अथवा समर्थ हैं ऐसी बात प्रसिद्ध न करें; क्योंकि यह हमें वर्तमानमें प्रतिकूल जैसा है ।**'' और पत्रांक : १७० में ऐसे वचन देखनेको मिलते हैं : ``**इसलिये अभी तो केवल गुप्त हो जाना ही योग्य है । एक अक्षर भी इस विषयमें कहनेकी इच्छा नहीं होती.....सर्व प्रकारसे गुप्तता रखी है । अज्ञानी होकर वास करनेकी इच्छा बना रखी है ।**''

❁ **परेच्छाचारिता :-** Eआत्मपरिणतिमें अखंडरूपसे रहनेके लिये यानी कि बाधा नहीं हो तद् हेतु उन्होंने बाह्य प्रवृत्तिमें दूसरोंकी इच्छाका अनुसरण करनेकी नीति अपनाई थी । इस प्रकारकी विचक्षणता उनके पत्रांक ३७६ में देखनेको मिलती है : ``**अभी जिस प्रवृत्तियोगमें रहते हैं वह तो बहुत प्रकारकी परेच्छाके कारणसे रहते हैं**'' और भी पत्रांक ३१७ में भी ऐसे वचन द्रष्टव्य हैं : ``**चित्त प्राय: वनमें रहता है, आत्मा तो प्राय: मुक्तस्वरूप लगता है । वीतरागता विशेष है । बेगारकी भाँति प्रवृत्ति करते हैं । दूसरोंका अनुसरण भी करते हैं ।**''

❁ **सम्यक् आचरणा :-** परम कृपालुदेवके बाह्य संयोगकी अपेक्षा से सामान्य मनुष्योंके जैसे ही सांसारिक प्रवृत्तिमें प्रवृत्ति करते हुए दिखने पर भी, अंतरंगमें एकदम असंगवृत्तिसे रह सकते थे । क्योंकि उन्हें किसी भी प्रकार के संयोगमें स्वपना अनुभवगोचर नहीं होता था । (देखिये पत्रांक :-३२९) इसके अलावा परानुकंपासे भी उदय को वेदन करने का उनसे बना था । जिसका उल्लेख उन्होंने पत्रांक-४०८ में इस प्रकारसे किया है : ``**तथापि जिसमें स्नेह नहीं रहा, अथवा स्नेह रखनेकी इच्छा निवृत्त हुई है, अथवा निवृत्त होने आयी है, ऐसे इस संसारमें कार्यरूपसे-कारणरूपसे प्रवर्तन करनेकी इच्छा नहीं रही, उससे निवृत्ति ही आत्मामें रहा करती है, ऐसा होनेपर भी उसके अनेक प्रकारके संग-प्रसंगमें प्रवर्तन करना पड़ता है ऐसा पूर्वमें किसी प्रारब्धका उपार्जन किया है, जिसे समपरिणामसे वेदन**

करते हैं तथापि अभी भी कुछ समय तक वह उदययोग है, ऐसा जानकर कभी खेद पाते हैं कभी विशेष खेद पाते हैं, और विचारकर देखनेसे तो उस खेदका कारण परानुकंपा ज्ञात होता है ।'' पत्रांक-३३९में व्यवहारिक प्रवृत्ति सम्बन्धी उनके वचनामृतोंको लक्ष्यमें लेने जैसा है : ``**अभी जो कुछ व्यवहार करते हैं, उसमें देह और मनको बाह्य उपयोगमें प्रवृत्त करना पड़ता है । आत्मा उसमें प्रवृत्त नहीं होता । क्वचित् पूर्वकर्मानुसार प्रवृत्त करना पड़ता है, जिससे अत्यंत आकुलता आ जाती है । जिन कर्मोंका पूर्वमें निबंधन किया गया है, उन कर्मोंसे निवृत्त होनेके लिये, उन्हें भोग लेनेके लिये, अल्पकालमें भोग लेनेके लिये, यह व्यापार नामके व्यवहारिक कामका दूसरेके लिये सेवन करते हैं ।**'' ऐसे व्यवहारिक कार्य करते हुए भी उनके परिणामकी स्थिति किस प्रकारकी रहती थी, वह पत्रांक-३४७ में दर्शित होती है : ``**जानते हैं कि जो परिणाम बहुत कालमें होनेवाला है वह उससे थोड़े कालमें प्राप्त होनेके लिये वह उपाधियोग विशेषत: रहता है... अभी यहाँ हम व्यवहारिक काम तो प्रमाणमें बहुत करते हैं, उसमें मन भी पूरी तरह लगाते हैं, तथापि वह मन व्यवहारमें नहीं जमता, अपनेमें ही लगा रहता है, इसलिये व्यवहार बहुत बोझारूप रहता है ।**'' इस तरह प्रारब्धकी निवृत्तिके हेतु वे उदयको सम्यक् प्रकारसे वेदन करते थे । उनका ऐसा सम्यक् आचरण था । इस सम्बन्धमें उनकी आत्मशक्ति बलवान होनेके कारण उदयकालमें विशेष पुरुषार्थसे पूर्वकर्मकी विशेष निर्जराके हेतु उपाधियोगका त्याग करनेके बजाय वे सम्यक् प्रकारसे पूर्वकर्मको भोग लेते थे । उनकी आध्यात्मदशाका अवलोकन करते हुए यह एक रहस्यभूत विषय समझमें आता है । इसके सम्बन्धमें स्पष्ट उल्लेख पत्रांक ३९८में है : ``**अभी जो उपाधियोग प्राप्त हो रहा है, यदि उस योगका प्रतिबन्ध त्यागनेका विचार करे तो वैसा हो सकता है; तथापि उस उपाधियोगको भोगनेसे जो प्रारब्ध निवृत्त होनेवाला है, उसे उसी प्रकारसे भोगनेके सिवाय दूसरी इच्छा नहीं होती; इसलिये उसी योगसे उस प्रारब्धको**

निवृत्त होने देना योग्य है, ऐसा समझते हैं;..." ऐसा होने पर भी, अंतरंग पारमार्थिक निवृत्त दशाको बाह्य उपाधि व्यवहारसे अनुकूल नहीं है, अत: उन्हें उपाधिसे छूटनेकी तीव्र वृत्ति रहा करती थी । जिसका उल्लेख उन्होंने पत्रांक ५६९ में किया है : ``**अब इस उपाधिकार्यसे छूटनेकी विशेष-विशेष आर्त्ति हुआ करती है, और छूटे बिना जो कुछ भी काल बीतता है, वह इस जीवकी शिथिलता ही है, ऐसा लगता है; अथवा ऐसा निश्चय रहता है । जनकादि उपाधिमें रहते हुए भी आत्मस्वभावमें रहते थे, ऐसे आलंबनके प्रति कभी भी बुद्धि नहीं जाती...नित्य छूटनेका विचार करते हैं और जैसे वह कार्य तुरंत पूरा हो वैसे जाप जपते हैं ।**" इस प्रकारसे प्रवर्तती उनकी सम्यक् आचरणा नि:संदेह अभिवंदनीय है, अनुकरणीय है ।

❁ **उपाधिमें समाधि :-** कृपालुदेवका व्यवहार उपाधिमें रहना पूर्व प्रारब्धयोगसे होता था; जो कि आराधकदशासे प्रतिकूल होने पर भी, वे अंतरंग समाधिभावमें निरंतर रहते थे । जिसका उल्लेख उनके अनेक पत्रोंमें देखनेको मिलता है । जिसका नमूना पत्रांक २४७ में इस प्रकारसे है : ``**चित्तकी दशा चैतन्यमय रहा करती है; जिससे व्यवहारके सभी कार्य प्राय: अव्यवस्थासे करते हैं । हरीच्छा (भवितव्य) को सुखदायक मानते हैं । इसलिये जो उपाधियोग विद्यमान है, उसे भी समाधियोग मानते हैं ।**" अर्थात् सम्यक्ज्ञानमें चारों पहलूसे, सभी प्रकारके संयोग-वियोगमें कहीं भी असमाधान नहीं होता; परन्तु सहज समाधिभाव रहता है । जो कि उन्होंने कई बार पत्रके द्वारा बताया है । पत्रांक:४०८ व ७१०के वचनामृत (उदय-प्रवृत्तिमें खेद, फिर भी सम्यक्प्रकारसे समता भावसे वेदन करनेमें आते हैं ।) उसके उदाहरणरूप हैं।

उनकी आराधना के साथ-साथ वर्तती दूसरी अनेकविध विशेषताएँ भी उल्लेखनीय हैं । अंतर आराधनाके साथ-साथ उसके अनुरूप व अनुकूल ऐसे बाह्य परिणमनमें अनेकविध प्रकारसे उनके अनेक गुण भी मुमुक्षुजीवको

अवलोकनमात्रसे उपकारी हों ऐसे हैं। जिसका यत्किंचित् वर्णन इस प्रकारसे है;

❁ **सातिशय ज्ञानयोग :-** परमकृपालुदेवके चित्तमें जब किसी भी बातकी स्फुरणा होती थी तब वह बहुतसे नययुक्त होती थी, यानी कि किसी एक बातके समर्थनमें अनेक नयोंकी संधि उनके ज्ञानमें स्फुरित हो आती, वैसा उल्लेख उन्होंने अपने शब्दोमें पत्रांक-२२३ में किया है । ``**लेखनशक्ति शून्यताको प्राप्त हुई जैसी होनेका कारण एक यह भी है कि चित्तमें उद्भूत बात बहुत नयोंसे युक्त होती है, और वह लेखनमें नहीं आ सकती है; ...(संभवित नहीं है)**'' तद्उपरांत उनके उपयोगकी तीक्ष्णता-तीव्रता-विशालताका उल्लेख पत्रांक-९१७ में देखनेको मिलता है : ``**एक श्लोक पढ़ते हुए हमें हज़ारों शास्त्रोंका भान होकर उसमें उपयोग घूम आता है (अर्थात् रहस्य समझमें आ जाता है) ।**''

❁ **विवेकदृष्टि :-** परम कृपालुदेवकी विवेकदृष्टिका विचार किया जाय तो किसी भी जीवका मस्तक झुक जाय ऐसी है । कोई भी लौकिक अथवा पारमार्थिक व्यवहार सम्बन्धित प्रश्न उपस्थित होकर उनके सामने आता है तब उनका उपयोग चारों पहलूसे उसका विचार करता हुआ दिखता है । इस विषयमें उनके पत्रोंमें विभिन्न कोटिके मुमुक्षुओंको जो मार्गदर्शन दिया है, इसका अगर विस्तार किया जाये तो इस विषयमें एक पूरी पुस्तक बन जाये ऐसा है । लेकिन संक्षेपमें इतना जरूर कह सकते हैं कि सम्यक्ज्ञानसे सुशोभित उनके ज्ञानका यथार्थपना उनके अनेक प्रकारके मार्गदर्शनमें प्रतीत होता है, अर्थात् उनकी ज्ञानदशाकी प्रतीति कराता है, और जिससे उनके प्रति भक्ति उत्पन्न होनेका सबल कारण प्राप्त होता है ।

❁ **गुण-प्रमोद :-** इस विषयमें उनका गुण-ग्राहकपना अथवा गुण प्राप्तिकी दृष्टि बहुत तीक्ष्ण थी, ऐसा समझमें आता है । वे चारों अनुयोगोंमेंसे सर्वत्र आत्मगुण प्रगट करनेका आशय खींच लेते थे । इतना ही नहीं, अन्यमतमें जन्म हुआ हो ऐसे मार्गानुसारी महात्माओंके वचन भी आत्मगुण

प्रगट होनेमें किस प्रकारसे प्रेरणा करते हैं, ऐसा आशय खींचकर व्यक्त करनेवाले उनके वचन शायद वर्तमान साहित्यमें अजोड़ हैं। इसके अलावा वे किसी भी व्यक्तिके दोषोंको गौण करके, उसके गुणके अल्प अंशको भी मुख्य करते थे । जिसके संदर्भमें उनकी एक पंक्तिका यहाँ उद्धरण करने योग्य है : ``**गुणप्रमोद अतिशय रहे, रहे अंतर्मुख योग ।**'' जैनदर्शनके अनुयोगके संदर्भमें प्रवाहित हुआ यह पद्य, गुणप्रमोदकी फलश्रुतिको अंतर्मुखतामें अभिव्यक्त करता हुआ प्रवाहित हुआ है । जो हमें उनकी गुण-प्रमोदताका दर्शन कराता है।

❁ **वात्सल्य और प्रभावना :-** अपनी आत्मदशासे जिन्होंने `निश्चयप्रभावना' प्रगट की है, ऐसे धर्मात्माकी ऐसी नीति होती है कि `व्यवहारप्रभावना" के प्रसंगमें जो जीव उनके समीपमें-सानिध्यमें आता है उसका स्थितिकरण वे बहुत विचिक्षणतासे करते हैं, और वात्सल्य करते हैं । यह व्यवहार प्रभावनाके मुख्य अंग हैं । महान् ज्ञानी श्रीमद् राजचंद्रजी व उनके समीपमें आनेवाले मुमुक्षुजीवोंके बीचमें हुए पत्रव्यवहारकी अगर इस दृष्टिकोणसे गवेषणा की जाय तो इस विषयमें उनकी असाधारण विचक्षणताका व प्रज्ञाका दर्शन होगा। किसी भी अन्यमत पंथमेंसे आनेवाले जीवको वे प्रथम जिज्ञासामें रखकर, मृदु भाषामें आवकार देते हैं और वात्सल्यता, मध्यस्थता व सरलतापूर्वक उसके साथ यथोचित् व्यवहार/वर्तन/उपचार/मार्गदर्शन करते हैं कि जिससे आनेवाला मुमुक्षु ज्ञानीसे कतई दूर न हो जाय । उसमें भी श्री सौभाग्यभाई जैसे अनेक मुमुक्षुओंको तो जैसे हाथ पकड़कर संसारसमुद्रमें से बाहर निकालते हो, बचा लेते हों-ऐसी परिस्थिति स्पष्ट मालूम पड़ती है ।

❁ **निष्कारण कारुण्यवृत्ति :-**ज्ञानदशाके अनुरूप उक्त अनेक विशेषताओंके अलावा, अन्य मुमुक्षुजीवोंके प्रति उनकी अभिन्नभावसे निष्कारण कारुण्यवृत्ति भी असाधारण थी । इस विषयमें उनके वचन पत्रांक-१९२ में द्रष्टव्य हैं; ``**हमारी वृत्ति जो करना चाहती है, वह निष्कारण परमार्थ**

है,..." और वे पत्रांक-३९८में कहते हैं कि : ``**कालका ऐसा स्वरूप देखकर हृदयमें बड़ी अनुकम्पा अखंडरूपसे रहा करती है। अत्यन्त दु:खकी निवृत्तिका उपायभूत जो सर्वोत्तम परमार्थ है उस सम्बन्धी वृत्ति जीवोंमें किसी भी प्रकारसे कुछ भी वर्धमानताको प्राप्त हो, तभी उन्हें सत्पुरुषकी पहचान होती है, नहीं तो नहीं होती । वह वृत्ति सजीवन हो और किन्हीं भी जीवोंको- बहुतसे जीवोंको-परमार्थसम्बन्धी मार्ग प्राप्त हो, ऐसी अनुकम्पा अखंडरूपसे रहा करती है;**" तदोपरांत पत्रांक-५२३में भी वे कहते हैं कि : ``**अनेक जीवोंकी अज्ञान दशा देखकर, फिर वे जीव `हम कल्याण करते हैं' अथवा `हमारा कल्याण होगा,' ऐसी भावना या इच्छासे अज्ञानमार्गको प्राप्त होते हुए देखकर, उसके लिये अत्यंत करुणा उद्‌भव होती है, और किसी भी प्रकारसे यह दूर करने योग्य है, ऐसा हो जाता है; अथवा वैसा भाव चित्तमें जैसाका तैसा रहा करता है ।**"

❁ **अलौकिक विनम्रता :-** कृपालुदेवके जीवनमें जिस प्रकारकी विनम्रता देखनेको मिलती है वैसा दूसरा दृष्टांत कहीं भी देखनेको नहीं मिलता है । वैसी अजोड़ विनम्रताके दर्शन उनके वचनामृतोंमें अनेक प्रकारसे होते हैं । वे पत्रांक-२१० में लिखते हैं कि : ``**हमपर आपकी चाहे जैसी भक्ति हो, परन्तु सब जीवोंके और विशेषत: धर्मजीवके तो हम त्रिकालके लिये दास ही हैं ।**"कृपालुदेवके चित्तकी अध्यात्ममय दशाके कारण मुमुक्षुजीवोंको प्रत्युत्तर देरसे लिखना अथवा प्रत्युत्तर नहीं लिख सकना बनता था, जिसके कारण उन्होंने अनेक पत्रोंमें क्षमा माँगी है। यद्यपि ऐसा होनेका कारण उनकी महान् अध्यात्मपरिणति है; इसलिये वे क्षमा माँगनेके योग्य (तो) नहीं हैं, फिर भी उन्होंने ऐसा होने पर मुमुक्षुजीवोंसे क्षमा माँगी है । इस प्रकार उनकी अलौकिक / असाधारण विन्रमता प्रदर्शित होती है । इसके अलावा पत्रांक-५२३ उनके अंतरंगको प्रदर्शित करता है : ``**बाह्य माहात्म्यकी इच्छा आत्माको बहुत समयसे नहीं जैसी ही हो गयी है, अर्थात् बुद्धि प्राय: बाह्य माहात्म्यकी इच्छा करती हुई प्रतीत नहीं**

होती।' उनकी स्मृति असाधारण होनेके कारण शतावधान आदि प्रयोग से उनकी ख्याति बढ़ी थी, फिर भी २३वें वर्षमें लिखी हुई `समुच्चयवयचर्या' में उनके नम्रता सूचक वचन इस प्रकार हैं : ``**सात वर्षसे ग्यारह वर्ष तकका समय शिक्षा लेनेमें बीता । आज मेरी स्मृतिको जितनी ख्याति प्राप्त है, उतनी ख्याति प्राप्त होनेसे वह किंचित् अपराधी हुई है;**'' इसके अलावा पत्रांक-७०८ में उनके निजावलोकन पूर्वक वचन इस प्रकार से हैं : ``**धर्म स्थापित करनेका मान बड़ा है; उसकी स्पृहासे भी कदाचित् ऐसी वृत्ति रहे, परन्तु आत्माको बहुत बार कसकर देखनेसे उसकी सम्भावना वर्तमान दशामें कम ही दिखती है ।**'' यह वचनामृत ऐसा सूचित करता है कि उन्होंने अपूर्व आत्मजागृतिपूर्वक मानकषाय पर विजय प्राप्त की थी । जो कि मुमुक्षुजीवको अनुसरण करनेके लिये उपकारी है और वास्तवमें भक्ति करने योग्य है ।

❁ **निर्ग्रंथताकी भावना :-** उनके परिणमनमें नोंध करने लायक एक पहलू यह भी है कि उन्हें पूर्णताके ध्येयके कारण यथार्थ पुरुषार्थकी उग्रता वर्तती थी और उस कारणसे उन्हें युवानवयमें ही सर्वसंगपरित्याग करके बाह्याभ्यंतर निर्ग्रंथ होनेकी उत्कट भावना रहती थी । इस विषयमें, उन्होंने अपनी अंतर भावना संस्मरणपोथी १(४५) में व्यक्त की है : ``**हे जीव ! अब तूँ संगनिवृत्तिरूप कालकी प्रतिज्ञा कर, प्रतिज्ञा कर ! ....ऋषभ आदि सर्व परम पुरुषोंने अन्तमें ऐसा ही किया है**'' पुन: उनके हृदयमें रही हुई यह भावना पत्रांक ४५३ में भी इन शब्दोंमें स्फुरित हुई है; ``**मनमें ऐसा ही रहा करता है कि अल्पकालमें यह उपाधियोग मिटकर बाह्याभ्यंतर निर्ग्रंथता प्राप्त हो तो अधिक योग्य है । तथापि यह बात अल्पकालमें हो ऐसा नहीं सूझता, और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक वह चिन्ता मिटनी सम्भव नहीं है ।**'' इसी प्रकारकी भावना उन्होंने पत्रांक ५६०में व्यक्त की है : ``**उसमें अवश्य आत्मदशाको भुलाने जैसा सम्भव रहे, वैसे उदयको भी यथाशक्ति समपरिणामसे सहन किया है । यद्यपि उस सहन करनेके**

कालमें सर्वसंगनिवृत्ति किसी तरह हो तो अच्छा, ऐसा सूझता रहा है;'' इसके अलावा उनकी बाह्याभ्यंतर निर्ग्रंथताकी भावनाकी अभिव्यक्ति करनेवाला ``अपूर्व अवसर'' काव्य तो जगप्रसिद्ध है ही । धन्य है उनकी आराधना !!

❁ **कथन-अविरुद्धता :-** जिन्हें अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञानमें निजात्मस्वरूप अनुभवगोचर हुआ हो, ऐसे किसी भी ज्ञानीपुरुषके वचनमें पूर्वापर वचन-विरुद्धता कहीं भी होती ही नहीं। ये खास लक्ष्यमें रखने जैसा है। आत्मपदार्थमें कुछएक परस्पर विरुद्ध धर्म हैं और वे एक ही पदार्थकी सत्तामें रहने के कारण उनकी अभिव्यक्ति स्वानुभवविभूषित पुरुषके वचनमें ही हो सकती है। दूसरे जीवोंको, कि जिन्हें, स्वानुभव नहीं है परन्तु शास्त्रका पठन-पाठन है वैसे जीवोंको पदार्थदर्शन नहीं होनेके कारण पूर्वापर विरोधपना आये बिना नहीं रहता । ज्ञानीपुरुषके वचनोंका पूर्वापर अविरोधपना-वह खास प्रकारका विलक्षण स्वरूप है और वह जिसको समझमें / पहचानमें है उसको तो उन ज्ञानीके प्रति अत्यंत अहोभाव सहज उत्पन्न होता है । ऐसी कथन-अविरुद्धता कृपालुदेवके वचनोंमें रही है ।

❁ **विधि-दर्शकता :-** बारह अंगका सारभूत सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय अगर कोई है तो वह अंतर्मुख होकर स्वस्वरूप प्राप्तिकी विधि / कार्यपद्धति का है और वह स्वानुभवी ज्ञानीपुरुषकी वाणीके अलावा कहीं भी प्राप्त होना असम्भवित है । स्वस्वरूपप्राप्तिकी विधिकी सूक्ष्मता व अंतरध्वनिकी अभिव्यक्ति एकमात्र ज्ञानीपुरुषकी वाणीमें ही होती है, ऐसी वस्तुस्थिति है । कृपालुदेवने इस विषयमें (ज्ञानीपुरुषकी वाणी सम्बन्धित) कुछ एक लक्षण पत्रांक ६७९ में प्रसिद्ध किये है; उसमें आत्मभान करनेका आशय, पदार्थदर्शनके कारण विरुद्ध स्वभावोंका भी अविरुद्ध निरूपण, आत्मार्थ उपदेशकपना, अपूर्वस्वभावके अपूर्व अर्थका निरूपण, आत्मजागृतिके कारण सतत जागृत करनेवाली, शुष्कतारहित अध्यात्म निरूपण, वास्तविक व यथास्थित पदार्थ निरूपण इत्यादि लक्षणोंको कृ.देवने अपने स्वानुभव से दर्शाया है। और इसलिये वर्तमान निकृष्ट कालमें भी अखंड मोक्षमार्ग जीवित रह पाया है ।

❁ **धर्म प्रवृत्तिमें विचिक्षणता :-** श्री तीर्थंकरदेवके मार्गको प्रकाशित करनेकी शक्ति होने पर भी यानी कि सामर्थ्य होने पर भी (पत्रांक : ७०८) दूसरे जीवोंको शंका हो ऐसा बाहरमें प्रारब्ध योग होनेसे उन्होंने मूलमार्गका उपदेश नहीं किया है - ऐसा अनेक पहलुओंसे सोचा था । इस विषयमें लिखे गये पत्रांक-५०० व ५८२ विशेषरूपसे गवेषणा करने योग्य हैं। पत्रांक ६२१ में लोगों को नुकसान नहीं हो इस दृष्टिकोणसे भी कृपालुदेवने समाज के बीच (-समष्टिगतरूपसे) धर्मप्रकाशक रूपसे प्रवृत्ति नहीं की है ऐसा उल्लेख उनके शब्दोंमें इस प्रकार है: ``**इस आत्माके सम्बन्धमें अभी बाहर किसी प्रसंगकी चर्चा होने देना योग्य नहीं है; क्योंकि अविरतरूप उदय होनेसे गुणाभिव्यक्ति हो तो भी लोगोंको भास्यमान होना कठिन पड़े; और उससे विराधना होनेका कुछ भी हेतु हो जाय; तथा पूर्व महापुरुषके अनुक्रमका खंडन करने जैसा प्रवर्तन इस आत्मासे कुछ भी हुआ समझा जाय ।**'' उनकी इस विषयमें अनेक पहलुओंसे काफी सूक्ष्म विचारणा चली थी इसका उल्लेख उनकी संस्मरणपोथी-१(७३) में मिलता है; ``**एक राज्यके प्राप्त करनेमें जो पराक्रम अपेक्षित है उसकी अपेक्षा अपूर्व अभिप्रायसहित धर्म संततिका प्रवर्तन करनेमें विशेष पराक्रम अपेक्षित है । थोड़े समय पहले तथारूप शक्ति मुझमें मालूम होती थी ।**'' तथारूप शक्ति खुद में थी फिर भी अनेकविध कारणोंसे वे गुप्त रहे थे । उसमेंसे एक सूक्ष्म बात, अति गूढ़ वचनोंमें इसी संस्मरणपोथीमें (१/७३में) देखनेको मिलती है : ``**दर्शनकी रीतिसे इस कालमें धर्मका प्रवर्तन हो इससे जीवोंका कल्याण है अथवा संप्रदायकी रीतिसे प्रवर्तन हो तो जीवोंका कल्याण है, यह बात विचारणीय है । संप्रदायकी रीतिसे वह मार्ग बहुतसे जीवोंको ग्राह्य होगा, दर्शनकी रीतिसे वह वीरल जीवोंको ग्राह्य होगा । यदि जिनाभिमत मार्ग निरूपण करने योग्य गिना जाये, तो वह संप्रदायके प्रकारसे निरूपित होना विशेष असंभव है । क्योंकि उसकी रचनाका सांप्रदायिक स्वरूप होना कठिन है । दर्शनकी अपेक्षासे किसी ही जीवके लिये उपकारी होगा इतना**

विरोध आता है ।''

उपरोक्त प्रकारसे उन्हें मार्ग प्रवर्तनकी रीति नीतिके विषयमें बहुत सूक्ष्म व गहन विचार आये हैं, और परस्पर विरूद्ध बातोंका ऊँडा (गहन) विचार चला है, ऐसा उनके उक्त वचनोंसे समझमें आ सकता है । ये सभीके निष्कर्षरूप से उन्होंने स्वयंकी आराधनाको मुख्य करके, गौणरूपसे जो-जो जीव पात्र दिखे उनके बीच द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावकी मर्यादामें रहते हुए, यथार्थरूपसे व योग्य रीतिसे मार्ग-प्रवर्तनकी प्रवृत्ति की है । ऐसा समझमें आता है ।

स्वयंके उदयभाव व औदयिक संयोगोंकी परिस्थितिको देखते हुए, शासनकी प्रवर्तनाके अंतरंग गुणोंके होने पर भी, शासननायक अथवा उपदेशके स्थानमें रहकर, उन्होंने धर्मप्रवृत्ति नहीं की है, यह इस विषयमें उनकी गहन विचारणा व दीर्घदर्शिताको प्रदर्शित करता है ।

गुण संकीर्तक :

श्रद्धेय पू. `भाईश्री' शशीभाई

सौम्यमूर्ति पू. 'भाईश्री'का संक्षिप्त जीवन परिचय

सामान्यतः किसी भी साधारण मनुष्यका इतिहास या जीवनचरित्र नहीं लिखा जाता, परन्तु जो स्वयं पुरुषार्थ करके अपना इतिहास बनाते हैं यानी कि जन्म-मरणका छेद करके जीवनमुक्त होते हैं, उनका जीवनचरित्र लिखा जाता है, और उनकी यशगाथा सारे लोकमें फैलती है। ऐसे ही एक पुरुषार्थवंत आत्माका- ``पूज्य भाईश्री'' का जीवनचरित्र यहाँ पर प्रस्तुत है।

जंबुद्वीपके भरतक्षेत्रमें स्थित भारतदेशमें अनेक तीर्थंकर, आचार्य व ज्ञानी भगवंत होते रहे ह ै । इनसे यह भूमि हर-हमेश पवित्र रही है। अनादिकालसे परिभ्रमण कर रहे अनेक जीव इस क्षेत्रमें साधना करके मोक्ष पधारे हैं।

जन्मभूमि सुरेन्द्रनगर (ननिहाल)

इस भारत देशके सौराष्ट्र प्रांतमें सुस्थित सुरेन्द्रनगर नामके एक गाँवमें, संवत-१९८९ के मार्गशीर्ष शुक्ल अष्टमी, दि.२८-११-१९३३

के मंगल दिन एक प्रामाणिक सद्गृहस्थ श्री मनसुखलाल लघरचंद शेठके वहाँ ऐसे ही कोई पवित्र आत्माका आगमन हुआ। मातुश्री रेवाबहनकी कोख खिल उठी। प्रभावशाली पुरुषके पुनीत आगमनसे किसे हर्ष नहीं होगा ?

वातावरण प्रफुल्लित व अनोखे आनंदोल्लाससे हर्षित हो उठा है। भरतभूमि फिर एकबार गौरवपूर्ण धन्यताका अनुभव कर रही है। माता-पिताके हर्षकी सीमा नहीं है। बालककी शांत व सौम्य मुखमुद्राको देखते हुए तृप्ति नहीं होती है। इस आत्माको देखकर हरकोई अनोखी शांतिका अनुभव कर रहे हैं। यह शूरवीर आत्माका आगमन अनन्त तीर्थंकर जिस मार्ग पर चले हैं, उस मार्ग पर चलनेके लिए हुआ है। अहो! धन्य है इस भूमिको! और धन्य हैं इनके माता-पिताको! फिर जन्म लेना ही न पड़े, इसके लिए जिसने जन्म धारण किया है। चंद्रकी चांदनी जिस तरह शीतलता फैलाती है और भूमिको श्वेत करती है, वैसे त्रिविध तापाग्निसे आकुल-व्याकुल होकर मृगजल पीनेके लिए दौड़ रहे क्लेशित आत्माओंको शीतलता प्राप्त करानेवाले और दोषकी कालिमाको धोकर पवित्र व श्वेत दशाकी प्राप्ति करानेवाले इस बालकका नाम भी `शशीकांत' रखा गया।

राणपुरका घर - जहाँ बचपन व्यतीत हुआ

बाल्यावस्था :

अपने मूल वतन राणपुर गाँवमें बालकुमार शशीकांतकी नयनरम्य चेष्टाएँ देखकर सभी मन ही मन मलक रहे

हैं। स्वयंकी निर्दोष चेष्टाओंसे लोगोंके मन हरनेवाले इस बालकुमारका जीवन सानंद व्यतीत होने लगा है। अभी से यह बालकुमार नीडर, पापभीरु, गुण-ग्राही, स्वतंत्र विचारक और आदर्श विचारधारा रखता है। असाधारण बुद्धिमत्ताके कारण स्कूलमें प्रायः प्रथम या द्वितीय क्रम पर उत्तीर्ण हो रहा है। करीब ९-१०सालकी उम्रमें दादाजी द्वारा धार्मिक संस्कारका सिंचन शुरू हुआ। वैष्णव कुटुम्बमें जन्म हुआ होनेसे रामायण, गीता, महाभारत, भागवत इत्यादि ग्रंथका पठन करने लगा। बहुत तेज़ स्मरणशक्तिके कारण देखते ही देखते इस बालयुवकने श्रीमद् भगवत् गीताके दो-तीन अध्यायके संस्कृत श्लोक तो कंठस्थ कर लिए। यह बालयुवक प्रत्येक कार्य चुस्तता व दृढ़ मनोबलपूर्वक कर रहा है। अरे ! यह तो अलौकिक आत्मा ! जो आत्माकी साधना करनेवाला है, वह सामान्य बालककी कोटिमें कैसे आयेगा ? बालककी चुस्तता व दृढ़ मनोबलके दर्शन हम निम्न लिखित प्रसंगसे करें।

गरमीका मौसम चल रहा है, आकाशमें सूर्य तेज़ धूपके साथ गरमी फैला रहा है। ऐसी तीव्र धूपमें स्कूलके मैदानमें आर.एस.एसकी परेड चल रही है। परेडके दौरान इस बालकका अत्यंत तृषाकी वजहसे कंठ सूखने लगा, फिर भी नियमका पालन चुस्ततासे करनेका दृढ़ निश्चय होनेसे यह बालक किसीको बोला नहीं। एक ओर चिलचिलाती धूप और दूसरी ओर कठोर परिश्रम, ऐसी परिस्थितिमें सूखा

बालकुमार शशीकांत
(**उम्र - १४ साल**)

हुआ कंठ जैसे मानो पाणीका एक-एक बूँदके लिए पुकार कर रहा हो, तब ऐसेमें परेड करीब-करीब पूरी होनेके पहले बालक चक्कर खाकर गिर पड़ा, लेकिन अपनी चुस्तता व निश्चयको नहीं छोड़ा। देखिये ! इस बालककी चुस्तता और दृढ़ मनोबल !

कुमार शशीकांतकी स्वंतत्र विचारधारा व अनुभव प्रधानताके दर्शन भी निम्न प्रसंगसे करने योग्य है। १४ सालकी उम्र है, युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी जैसे महाप्रतापी सत्पुरुष राणपुरमें पधारे हैं। कुमार शशीकांतको उनके आत्मकल्याणकारी मंगल प्रवचन सुननेकी उत्कंठा जगी और प्रवचन सुनने जाता है। प्रवचनमें पूज्य गुरुदेवश्रीने फरमाया कि `देखो ! आत्मामें ज्ञान स्वयं हो रहा है, यह ज्ञान वाणीसे उत्पन्न नहीं होता, नाहि गुरुसे उत्पन्न होता है, परन्तु स्वयं ही उत्पन्न हो रहा है' - यह बात सुनते ही `देखो' ऐसा शब्दप्रयोग हुआ था, इसलिए यह कुमार शशीकांतने अंदरमें देखा तो उसे मालूम पड़ा कि, `सचमुच, मेरा ज्ञान भी स्वयं, सहज उत्पन्न हो रहा है।' देखा ! पूर्वसंस्कारवश अनुभवपद्धति कैसे जागृत हो जाती है! ऐसे-ऐसे तो अनेक सद्‌गुण संपन्न कुमार अब युवावस्थामें प्रवेश करता है।

युवावस्था :

असाधारण बुद्धिमत्ताके कारण पढ़ाईमें बहुत-बहुत तरक्की करनेके विचार आने लगे और एफ.आर.सी.एस (लंडन) डॉक्टर बननेकी तीव्र महत्त्वाकांक्षा चलने लगी। परन्तु प्रारब्ध कुछ और ही था ! (उन्हें तो भवरोगके वैद्य बनना था !) इसलिए उन्हें कुटुम्बकी आर्थिक परिस्थिति अत्यंत कमज़ोर होनेसे युवावयमें प्रवेश होते ही मेट्रीक तक अभ्यास पूर्ण करके पिताजीके व्यवसायमें जुड़ना पड़ा। उनकी कार्यकुशलता, बुद्धिमत्ता व प्रामाणिकताको देखकर उनके एक स्नेही

द्वारा बम्बई जैसे बड़े प्रवृत्तिक्षेत्रमें जानेकी प्रेरणा मिलने पर एक बड़े कमीशन एजंटके वहाँ नौकरीमें लग गये।

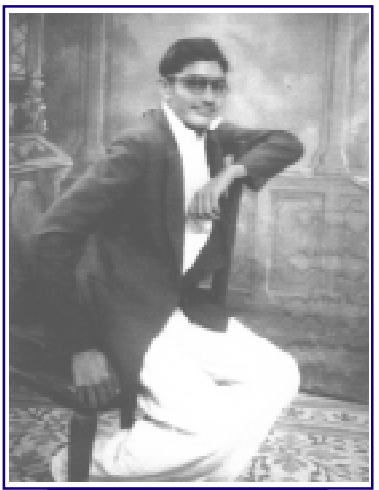

उम्र - १९ साल

इसी अरसेमें बम्बईमें विरमगामके श्री दोशी किरचंद लक्ष्मीचंदकी सुपुत्री, चंद्रावतीके साथ उनकी सगाई हुई। इन्हीं दिनोंमें पांडुरंग शास्त्रीजीको सुननेका प्रसंग पड़ा और तत्त्वज्ञान सम्बन्धित रस जागृत हुआ। महात्मा निश्चलदासजी कृत श्री विचारसागर ग्रंथ पढ़नेमें आया, इस वांचनसे तत्त्वविचार और मंथन तीव्रतासे चलने लगा। अंतरंगमें ऐसी परिस्थितके दौरान सम्यक्ज्ञानका अनुसरण करे वैसा दृष्टिकोण साध्य करनेका उनका अभिप्राय बना, वह इसप्रकार कि, `चाहे किसी भी प्रसंगमें उस परिस्थित सम्बन्धित मेरा निर्णय यथार्थ ही हो, वैसा दृष्टिकोण मुझे प्राप्त कर लेना चाहिए।' इस विषयमें निरंतर चिंतन-मंथन चलने लगा।

शुरूसे ही आदर्शकी मुख्यतावाली विचारधारा, तत्त्वज्ञानका रस, कुलधर्मका अपक्षपात, मध्यस्थता, तथापि सांप्रदायिक धर्मका आकर्षण व अंधश्रद्धाका अभाव इत्यादि सद्गुण समेत जैनदर्शनके प्रति उन्हें किस प्रकार आकर्षण हुआ, यह भी दर्शनीय है।

एक वक्त बम्बईमें दुकान पर बैठे थे, तब साथमें काम कर रहे एक सद्गृहस्थने सामनेसे चलकर हाथ जोड़कर क्षमा माँगी। तब उन्होंने सआश्चर्य क्षमा माँगनेका कारण पूछा, तो उन्हें मालूम पड़ा कि जैनधर्ममें इसप्रकार सालभरमें एकबार जो-जो भूल हुई हो,

चाहे नहीं हुई हो, इसके लिए क्षमा माँगी जाती है, तब सानंदाश्चर्य सहित जैनदर्शनके प्रति अहोभाव जागृत हुआ और आकर्षण भी हुआ। तब उन्हें राणपुरमें बचपनका वह प्रसंग भी याद आया कि वहाँ भी जैनियोंके घरमें कैसी रीति-नीति होती है, वह प्रसंग तादृश्य हो गया। एकबार किसी जैनके घर जानेका प्रसंग पड़ा था, वहाँ रसोईके लिए कंडे इकट्ठे किये हुए थे, जब उसे जलानेके लिए लेते थे, तब चूल्हेमें डालनेसे पहले उसे झाड़ते थे कि कहीं उसमें कोई जीव-जंतु तो नहीं है न ? या अगर हो तो निकल जाये। ये देखकर उनको ऐसा लगा कि जैनदर्शनमें छोटे से छोटे जीवकी भी हिंसा न हो, इसकी कितनी सावधानी रखी जाती है !! अहो ! पूतके लक्षण पालनेमें !

देखिये ! इस कहावत अनुसार जिनके द्वारा समस्त जिनशासनकी प्रभावना होनेवाली है, ऐसे इस पवित्र आत्माको गुणदृष्टि होनेसे दूसरेके गुण प्रति कितना प्रमोद आता है ! इसतरह जैनदर्शन और कुलधर्म (वैष्णवधर्म) की तुलना सहज होने लगी। बम्बईमें अतिशय कार्यभार व सख्त परिश्रमके कारण उनका स्वास्थय बिगड़ा, इसलिए बम्बई छोड़कर भावनगर आना हुआ और भावनगरमें एक संबंधीकी दुकान पर नौकरीमें लग गये।

अब, यहाँ भावनगरमें तत्त्वज्ञानके रसको पुष्टि नहीं मिलती थी इसकी क्षति महसूस होने लगी। किसीका सत्संग नहीं है और नाहि कोई तत्त्वज्ञानकी बात करनेवाला दिखता है, इसलिए मन उदास रहने लगा। परन्तु जिनके आत्माके परिभ्रमणका किनारा अब नज़दीक हो, उनसे सत्य आखिर कब तक दूर रहता ? क्या भावनाके साथ कुदरत बंधी हुई नहीं है ? अरे ! अवश्य बंधी हुई है !

दिशाबोध :

एक ओर सत्संगका अभाव, स्वयंकी तत्त्वज्ञान सम्बन्धित रुचि-रसको आवश्यक पोषणका अभाव, दूसरी ओर अंदरमें सत्यकी खोज व सुखसे वंचित अंतरंग अतृप्त अंतरपरिणति, ऐसी स्थितिमें विधिकी किसी धन्य बेलामें एक दिन खुद दुकान पर काम कर रहे थे, तब पासमें पड़े एक ग्रंथ पर नज़र पड़ी, ग्रंथका नाम पढ़ते हैं - `श्रीमद् राजचंद्र'। जैनदर्शनमें प्रवेशका यह प्रथम कारण उन्हें आज मिल गया। यह प्रसंग मुक्तिकी दिशामें मंगलकारी बना। जिज्ञासापूर्वक ग्रंथके कुछएक पन्ने वे देखने लगे तो उन्हें लगा कि, यह तो कोई तत्त्वज्ञान विषयक ग्रंथ है। फिर तो विशेष अभ्यास करने पर ग्रंथकार कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीके वचनामृतोंसे वे अत्यंत प्रभावित होते गये। कृपालुदेवकी मध्यस्थताको देखकर उनका हृदय प्रफुल्लित हो उठा। स्वयंके तत्त्वज्ञानकी रुचिको पुष्टि मिलने लगी। फिर तो क्या कहना ! अंतरंगमें अतृप्त परिणतिको मानो जैसे कोई विश्रांतिका स्थान मिल गया !!

इस ग्रंथको पढ़नेके पश्चात् उन्हें ऐसा लगा कि, जैनदर्शनमें जीव और जड़ परमाणुका विज्ञान है और दोनों पदार्थके निमित्त-नौमितिक संबंधकी जितनी असर जीव लेता है, उतनी सुख-दुःखकी उत्पत्ति होती है। यदि इस सुख-दुःखकी समस्याका उपाय मिल जाये तो हमेशके लिए बहुत बड़ी उपलब्धि हो जाये, ऐसा उन्हें लगा। इस आकांक्षा सहित जैनदर्शनकी गहराईमें जानेका अत्यंत रस उत्पन्न हो गया।

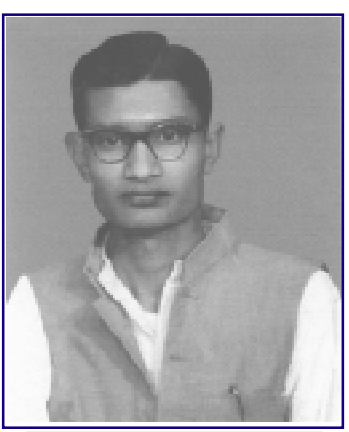

निजस्वरूपके वियोगवश छायी हुई उदासीनता

गुण-दोषकी चर्चा, पदार्थका वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे, नय, प्रमाणकी पद्धतिसे सुव्यवस्थित प्रतिपादनको देखकर उनके हृदयमें जैनदर्शनकी सर्वोत्कृष्टता अंकित हो गई। अनन्तकालसे चल रहे जन्म-मरण और इसके दुःख व क्लेशसे छूटनेका एक मात्र उपाय आत्मज्ञान है, इस बात पर ध्यान गया। अतः यदि ज्ञानी मिलते हो तो सातवें पाताल तक जानेके लिए मैं तैयार हूँ, इस अभिप्राय सहित कोई आत्मज्ञानीका सान्निध्य पाकर अपने सभी परिणामोंका निवेदन करके मार्गदर्शन पानेका सर्वप्रथम मंगल विचार उन्हें आया। कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीके सत्संगके महत्त्व विषयक उन्हें यथार्थ मूल्यांकन आया और सत्संगकी तीव्र भावना रहने लगी। फिर तो कहावत है कि ``जहाँ चाह है, वहाँ राह है'' - वैसे उनकी भावना सफल हुई और एक धर्मप्रेमी मुमुक्षुके वहाँ सत्संगकी सुमंगल शुरूआत हुई।

निज परमात्माके वियोगकी वेदना व तड़पन :

कृपालुदेव - ``श्रीमद् राजचंद्र'' ग्रंथका अत्यंत गहन अवगाहन चल रहा है, और इसमेंसे सुख-दुःखकी समस्याका उपाय मिलनेकी संभावना दिखने पर इस समस्याको सुलझानेके लिए उनका हृदय इसकी गहराईमें जाने लगा। सच्चा सुख कहाँ है ? दुःखकी निवृत्ति कैसे हो ? सर्व प्रकारसे दोषसे निवृत्त कैसे हुआ जाये ? ये जन्म-मरण क्यों ? जन्म-मरणका आत्यंतिक वियोग किस विधिसे हो सकता है ? ऐसे-ऐसे अनेक प्रश्न उनके हृदयमें छा गये। ऐसी अंतरंग स्थितिके दौरान सत्संगकी शुरूआत हुई और हररोज प्रातःकाल करीब ४-०० बजे सत्संगमें जाना शुरू किया। एक और कृपालुदेवके ग्रंथका अध्ययन और दूसरी और अंतरंग परिणामोंकी ऐसी स्थिति !

सुबह ४-००बजे एकांतका समय है। कड़ाकेकी ठंडमें सारा विश्व भावनिद्रा व द्रव्यनिद्रामें सो रहा है, तब जन्म-मरणकी समस्याका

उपाय खोजनेके लिए निकला हुआ यह धीर-वीर आत्मा, गंभीर व शांत चालसे चलते-चलते सत्संगमें जा रहा है। तब बगलके गाँवसे आधी रातको निकला हुआ एक किसान अपनी बैलगाड़ीमें शहरसे कूड़ा (खाद) इकट्ठा करने चला आ रहा है। उसे देखकर उन्हें विचार आया कि, इतनी तुच्छ वस्तुकी प्राप्तिके लिए भी यह किसान कितना परिश्रम व प्रतिकूलताओंको भोगता है ! जब कि मैं तो जगतका सर्वोत्कृष्ट कार्य करने निकला हूँ तो इसके लिए चाहे कितनी भी कीमत यदि चुकानी पड़े तो इसमें क्या विशेषता है ? बस! फिर तो इस-इस प्रकारकी मंगल सुविचारणा और आँखसे अविरत बहती अश्रुधाराको कौन रोक सके ? कोई रोकना भी चाहे तो रोक नहीं सके ऐसी हृदय द्रावक वेदनाके बीच अंतरंगका शुद्धिकरण हुआ और हृदयसे तीव्र वेदना सहित ध्वनि निकल पड़ी...

''हे प्रभु ! हे प्रभु ! शुं कहुं, दीनानाथ दयाळ,
हुं तो दोष अनंतनुं, भाजन छुं करुणाळ।।
अनन्तकाळथी आथडयो, विना भान भगवान,
सेव्या नहि गुरु सन्तने, मूक्युं नहि अभिमान।।
अधमाधम अधिको पतित, सकल जगतमां हुंय,
ए निश्चय आव्या विना, साधन करशे शुंय ?''

`निज दोषका अत्यंत पश्चाताप हुए बिना पवित्रताकी शुरूआत नहीं होती' - इस सिद्धांत अनुसार अनन्तकालसे चले आ रहे निजदोषका अत्यंत तीव्र पश्चाताप व निज परमात्मस्वरूपके वियोगकी वेदनासे पीड़ित उनका हृदय तीव्र आकुल-व्याकुल रहने लगा। इसप्रकार इस वेदनासे संसारकी उपासनाका अभिप्राय मिटा और अंतःकरणकी अत्यंत शुद्धि हुई।

पूर्णताका लक्ष्य :

उपरोक्त वेदनाके कारण उत्पन्न हुई उदासीनतासे बाहरमें कहीं पर रस नहीं आता, जिसके कारण जीवन रसविहीन हो गया। एकमात्र आत्मकल्याण कैसे हो ? बस! एक ही धून लगी रहती। उनके अंतरंगको देखे तो कुटुम्बकी कमज़ोर आर्थिक परिस्थिति होने पर भी अनेक प्रकारकी भौतिक सुख सम्बन्धित लौकिक महात्वाकांक्षाओंका हृदयसे त्याग हुआ। उस वक्त एक क्षणके लिए भविष्यकी चिंताका विचार आ भी गया तो इस पुरुषार्थी जीवने उसे ठोकर मार दी और शुद्ध अंतःकरणसे आत्मकल्याण कर ही लेना है, ऐसे निश्चयका जन्म हुआ और अंतरंगमें एक लयसे इस महान् सिद्धिकी उपलब्धिके लिए कार्यशील हो गये। देखिये ! कैसा अद्‌भुत संवेग प्रगट हुआ है !! जिसप्रकार

बादलको देखकर सूर्य वापिस नहीं मुड़ता और नदीका पाानी बीचमें पड़े हुए पथ्थरकी छाती चीरता हुए आगे बढ़ता है - वापिस नहीं मुड़ता, वैसे दृढ़ निर्धारपूर्वक चल रहे इनके परिणामोंको अब विश्वकी कोई भी ताकत रोक सकती है क्या ?

जीवनमें सिर्फ एक ही लक्ष्य / ध्येय हो गया। जीवनमें संपूर्ण शुद्धिकी उपासना करते-करते चाहे कैसी भी अग्नि परीक्षामेंसे गुज़रना पड़े फिर भी आत्मकल्याण शीघ्रतासे कर ही लेना है, ऐसा भाव बार-बार रहा करता है। असाधारण निश्चय शक्ति एवं परमार्थके लिए प्रतिकूल प्रियजनोंके विपरीत अभिप्रायके सामने अटल रहनेकी,

नाहिंमत नहीं होनेरूप वज्रसमान हिंमतके साथ लड़ना और फिर भी निर्दोष वृत्तिके साथ अनादिसे चले आ रहे अज्ञान-अंधकारसे निकलनेके लिए इनकी खोज शुरू हुई। ऐसे असाधारण निश्चयके साथ आगे बढ़ रहा यह आत्मा न तो सिर्फ उलझनमें उलझा रहता है, नाहि प्रमाद करता है, बल्कि अत्यंत धीरज व गंभीरता समेत मार्ग ग्रहण करनेके प्रयत्नमें लगा है।

देखिये ! कैसे असाधारण गुण प्रगट हुए हैं ! मुमुक्षुता देदीप्यमान होकर झलक उठी है ! जिसको छूटना ही है, उसे कोई नहीं बाँध सकता। - इस सिद्धांत अनुसार इस भव्यात्माके अद्‌भुत गुणोंको देखते-देखते हृदय झुक जाता है। अनन्तकालमें जो सत्पात्रता प्राप्त नहीं हुई थी, वह सत्पात्रता प्रगट हुई! इसप्रकार सम्यक्‌दर्शनको रखनेका पात्र तैयार हो गया !!

निज दोषका अपक्षपातरूप अवलोकन :

``निर्दोष होनेकी प्रथम सीढ़ी अपने दोषको कबूल करना वह है'' - इसी सिद्धांत अनुसार अडोल वज्र जैसी हिंमतके साथ निर्दोष होने निकला यह आत्मा अब अपने दोषोंका अपक्षपातरूपसे अवलोकन कर रहा है और इन दोषोंको मिटानेके लिए अमलीकरण भी कर रहा है। इन दिनों कृपालुदेवके ग्रंथका गहन चिंतन और मंथन चल रहा है। प्रत्येक बातके यथार्थ निश्चय हेतु चलते हुए परिणामका अवलोकनपूर्वक प्रयोग पद्धतिसे कार्य चल रहा है। देखा ! कैसी आत्मसूझ आयी है। अनुभव पद्धतिसे कार्य करनेकी अंतरंगसे सूझ ऐसे मोक्षार्थीको ही आती है। अब बाहरमें कृपालुदेवके ग्रंथसे मिलता मार्गदर्शन और अंदरमें प्रयोग पद्धति, दोनोंसे अनेक प्रकारके पूर्वग्रह और विपर्यास कमज़ोर होने लगे। फिर तो इस अपक्षपातरूप दोषोंके अवलोकनके सातत्यसे अंदरमें ज्ञानकी निर्मलता बढ़ती गई, बढ़ती

गई...!

सत्पुरुषमें परमेश्वरबुद्धि :

परम तारणहार कृपालुदेवका आत्मकल्याण हेतुभूत मार्गदर्शनका मूल्यांकन अतिशय बढ़ता चला। उन्हें उपकारी श्रीगुरुकी छविमें परमात्माके दर्शन हुए। श्रीगुरुके भौतिक देहकी छवि - मनुष्याकृति गौण होकर भावात्मक परमात्माके दर्शन होते ही हृदय अश्रुसे सिक्त हो गया ! अनन्तकालसे भटक रहे इस आत्माके कल्याण हेतु ही न जाने इस ग्रंथकी रचना हुई होगी, ऐसा बार-बार उन्हें लगने लगा। इसप्रकार कृपालुदेवको केवल एक सत्पुरुषकी नज़रसे नहीं देखा बल्कि एक तारणहार परमात्मारूप देखने लगे। हृदयसे पुकार उठती है, अहो ! ये पुरुष इस विषमकालमें मेरे लिए परम शांतिके धामरूप व कल्पवृक्ष समान हैं। अहो ! अधिक क्या कहे? मेरे लिये तो ये दूसरे श्री राम और श्री महावीर ही है ! इसप्रकार इन्हें कृपालुदेवकी भक्तिमें लीन होकर उनके लक्षणोंका चिंतन चलने लगा और उनकी मुखाकृतिका हृदयसे अवलोकन होने लगा। अहो ! ज्ञानियोंने हृदयमें रखा हुआ व निर्वाणके लिए मान्य करने योग्य परम रहस्यको वे प्राप्त हो गये !

एक मृत्युसे बचानेवालेका उपकार भी विस्मृत नहीं होता, तो जो अनंत जन्म-मरणसे बचाये उनके प्रति परमेश्वरबुद्धि क्यों नहीं आयेगी? ज़रूर आयेगी। इसतरह सर्व शास्त्रोंके व सर्व संतके हृदयमें रहे मर्मरूप बीजकी प्राप्ति हुई अर्थात् प्रथम समकितकी प्राप्ति हुई। उक्त परिणामसे ज्ञानमें निर्मलता आने लगी, आत्मरुचि तीव्र होती चली और अंदरसे आत्माको अनन्तकालमें जो नहीं प्राप्त हुई थी, वैसी अपूर्व जागृति आयी। यह जागृति अपूर्व है ऐसी ठोस प्रतीति आयी।

अंतर खोज :

उपरोक्त निर्मल परिणामके साथ-साथ आत्मरुचि तीव्र होती चली। स्वरूप प्राप्तिकी तीव्र जिज्ञासा वश उत्पन्न वैराग्यने एक नये स्तरमें प्रवेश किया। निज परमात्मस्वरूपकी अंतर खोजमें यह भव्य आत्मा इतना तो खोया-खोया रहने लगा कि बाह्य व्यवहारमें और खाने-पीने इत्यादि नित्यक्रममें लक्ष भी नहीं रहता था। वैराग्यके कारण उदासीनतामें इतना रहने लगा कि खाते वक्त क्या खा रहा है ? उसका खयाल भी नहीं रहता था। खानेमें कौनसी चीज़ पूरी हो गई ? उसका भी खयाल नहीं रहता था। पहनावेमें और रहन-सहनमें इतनी तो सादगी आ गई कि घरवालोंको ऐसी दहशत होती है कि कहीं जैनधर्मकी दीक्षा तो नहीं ले लेगा ? अहा ! धन्य है यह उदासीनता !

आत्मसाधना करनेके लिए निकले इस आत्माको संसारमें सुहायेगा भी क्या ? जैसे हंसको मोतीका चारा करनेमें ही रस है; वैसे साधक आत्माको निज स्वरूपके अलावा अन्य कहीं भी रस नहीं आता। जहाँ सुखकी सहेली और अध्यात्मकी जननी उदासीनता मौजूद हो, वहाँ सत्य सुख और आत्मानुभव आखिर कितने दूर रहेगा ? अर्थात् अब तो वह अवश्य प्रगट होगा।

स्वरूप निश्चय :

अहो ! जिसके आधारसे अनन्तकालके सुखकी प्राप्ति होनेवाली है, जिसके आधारसे अनन्तकालसे चली आ रही जन्म-मरणकी श्रृंखला टूटनेवाली है; और जिसके आधारसे अतृप्त आत्मा परितृप्तताको प्राप्त होगा, ऐसे निज स्वरूप प्राप्तिकी तीव्र जिज्ञासा वश उत्पन्न वैराग्य एवं उदासीनतासे यह आसन्न भव्य जीवके ज्ञानमें निर्मलता बढ़ती चली। ज्ञानमें स्वभाव और विभाव जातिकी परख करनेकी क्षमता

प्रगट हुई। सर्व प्रकारके विभावभाव आकुलतारूप, मलिनतारूप और विपरीत स्वरूप भासित होने लगे। चलते हुए ज्ञानके साथ बार-बार विभाव भावका मिलान चल रहा है और इसके नतीजेमें ज्ञान बिलकुल अनाकुल, पवित्र और अविपरीत स्वरूप भासित होने लगा। इसतरह अंतर खोजके साथ चल रहे अवलोकनसे जातिकी परख आनी शुरू हुई। ऐसेमें कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रके सातिशय वचनयोगके लिए गौरव समान धन्य दिन आ पहुँचा ! कि जिस दिन अंतरंगमें निज परमात्माका स्पष्ट अनुभवांशसे पता लग गया। चलती हुई ज्ञान पर्यायमें ज्ञान सामान्य / वेदनके आधारसे अखंड एकरूप अनन्त ज्ञान व अनन्त सुखके सामर्थ्यरूप सहज स्वरूपका भावभासन हुआ। लौकिक समुद्रको तो तलवा होता है, लेकिन ये निज सुख समुद्रको कि जिसे तलवा ही नहीं है, इसे देखते ही पुरुषार्थने उछाला मारा। निज सिद्धपदका साक्षात् अस्तित्व ग्रहण होनेसे निज स्वरूपकी अपूर्व महिमा चालू हो गई। गुण निधानकी अनन्य रुचिका उछाला स्वरूप सन्मुखताके पुरुषार्थपूर्वक शुरू हुआ। जिसके कारण उदयभावमेंसे उपयोग बार-बार छिटक-छिटक कर स्वरूपके प्रति आने लगा।

इस प्रक्रियाने दिन-प्रतिदिन वेग पकड़ा। संवेग और निर्वेद - दोनों प्रकारके परिणाममें अप्रतिम ज़ोरके कारण स्वरूपलक्षके परिणामपूर्वक निज परमात्मपदकी धून चढ़ गई और पुरुषार्थका वेग फाटफाट चलने लगा। जैसे मानो अंदरसे पुरुषार्थका बंबा फटा न हो ! अनन्तकालसे सुखके

परम प्रेमसभर सान्निध्य

लिए बाहर भटक रहे उपयोगको विश्रांतिका स्थान मिल गया। जन्म-मरणकी जटिल समस्याका उकेल आ गया। फिर तो विश्वमें ऐसी कौनसी शक्ति है कि, जो इस पुरुषार्थको रोक सके या उपयोगको निज परमात्मासे अलग रख सके ? निज स्वरूपसे अन्य-अलग नहीं रह सकती। वर्तमान पर्यायने स्वरूपके साथ अनन्य होनेके लिए पूरी शक्तिसे पुरुषार्थ उठाया।

आत्मसाक्षात्कार :

इन्हीं दिनोंमें श्री दीपचंदजी कासलीवाल कृत `अनुभवप्रकाश' ग्रंथ इनके हाथ लगा। अब इसमें रहे वचन अनुसार स्वरूप लक्ष सहित भेदज्ञानका प्रयोग चल रहा है। `अनुभवप्रकाश' ग्रंथके गहन अभ्यासपूर्वक रसास्वादन करके ज्यों एक पानीदार अश्व उसके मालिकके एक ही इशारे पर तेज़ रफतारसे दौड़ने लगता है, त्यों इस पूर्व संस्कारी आत्माके अंतरंग परिणमनमें अप्रतिहत भावसे पुरुषार्थकी धारा बहने लगी।

२१ सालकी उम्र है। बाहरका दिखाव एकदम साधारण होने पर भी भीतरमें इस आत्माको अब निज परमात्मपदका पता लग चुका है, यह किसीके अंदाजमें आना भी मुश्किल है। १०० रुपिये तनखाकी नौकरी करते हुए भी इस भव्य आत्माको ऐसा लगता है कि `मैं परमेश्वर हूँ' और `तीनलोकका नाथ हूँ' अंतरंग परिणति पलट गई और स्वरूप सन्मुखताके पुरुषार्थपूर्वक भेदज्ञान धारावाहीरूपसे चलने लगा। वह कैसे ? कि,

पूर्वकर्म अनुसार शुभाशुभ भाव और क्रमशः उदयके प्रसंग हैं; उन सबसे मैं ज्ञानमय होनेसे भिन्न हूँ - ऐसा समभावपूर्वक - स्वका ज्ञानरूप वेदन करनेका पुरुषार्थ चल रहा है। प्रति क्षण, प्रसंग - प्रसंग पर इस प्रकारका पुरुषार्थ चालू है। ज्ञानमें स्व-अस्तित्वका ग्रहण

वेदनपूर्वक होनेसे चिद्रस उत्पन्न हुआ यह चिद्रस सहजरूपसे परिणतिमें मिला। परिणति उपयोगको बार-बार अपनी ओर खींचने लगी। - वारंवार इसी भेदज्ञानके अभ्यासके फलस्वरूप निर्विकल्प स्वरूपके आश्रयसे निर्विकल्प शुद्धोपयोग उत्पन्न हुआ और आत्माके प्रदेश-प्रदेशसे स्वसंवेदनज्ञान और अपूर्व आनंदका अनुभव हुआ...! जन्म-मरणकी श्रृंखला टूट गई, और परिणतिमें आनंदकी बाढ़ आयी जिसके साथ अनादिकालसे कर्तृत्वके बोझ तले दबी हुई परिणति मुक्तताका अनुभव करने लगी। अनुपम अमृत आस्वादसे परिणति तृप्त हुई। अहो ! धन्य है इस अज़ोड पुरुषार्थको ! धन्य है इनकी पवित्र साधनाको !

प्रवचनामृतका रसपान कराते पू. भाईश्री

युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं अन्य धर्मात्माओंका प्रत्यक्ष समागम :

सुवर्णपुरी सोनगढ़में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी द्वारा उपदिष्ट प्रवचनोंके संकलनको प्रकाशित कर रही मासिक पत्रिका `आत्मधर्म' के ४-५ अंक किसी मुमुक्षु द्वारा मिले उसका अभ्यास किया। जिससे पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रत्यक्ष समागम करनेकी प्रेरणा हुई। तत्पश्चात् सोनगढ़में पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रवचन सुननेका प्रथम प्रसंग बना। प्रवचनके बाद हुआ ऐसा कि, पूज्य गुरुदेवश्रीके पूछने पर इनके साथमें जो मुमुक्षुभाई थे, उन्होंने इस तरह पहचान करवाई कि `ये भाई वैष्णव है, लेकिन

जैनधर्ममें अच्छा रस रखते हैं' - यह सुनते ही पूज्य गुरुदेवश्री बोले ``हमारे यहाँ तो कोई वैष्णव भी नहीं है और नाहि कोई जैन है, हमारी दृष्टिमें तो सब आत्मा ही आत्मा है।'' ये समदृष्टि भरे पूज्यश्रीके वचन सुनकर, उनके प्रति आकर्षण बढ़ा और बादमें प्रवचन सुननेका प्रसंग बढ़ता गया। प्रथम ४-५ प्रवचन परीक्षादृष्टिसे और चिकित्सावृत्तिसे सुने, जिससे इस निष्कर्ष पर आये कि `ये तो कोहिनुर हीरा है, इसमें परीक्षा करनेकी ज़रूरत ही कहाँ है।' फिर तो पूज्य गुरुदेवश्रीका आत्मज्ञानीके रूपमें स्वीकार होने पर अधिक से अधिक उनका सत्संग मिले, ऐसी भावना रहने लगी। पूज्य गुरुदेवश्रीके जिनमार्ग प्रभावनाके उदयको देखकर इनका भी ऐसा अभिप्राय बना कि, `यदि इस अलौकिक जग-हितकर मार्गकी प्रभावना करनेमें `पेट पर पाटा बाँधकर अर्थात् (खाना कम खाकर भी समर्पण करना पड़े) तो भी मंजूर है, लेकिन प्रभावना करनी चाहिए' देखिये तो सही ! इन्हें कैसी अद्‌भुत मार्गभक्ति प्रगट हुई है !!

पूज्य गुरुदेवश्रीसे आत्मीयता बढ़ती चली जिसमें स्वयंकी परिणतिके रसको पुष्टि मिल रही थी। यह देखकर उनके साथ कईबार एकांतमें चर्चाका प्रसंग बनने लगा। दो ज्ञानीपुरुषके बीच कैसी ज्ञानगोष्ठि चलती होगी !! पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रवचनके दौरान वात्सल्यपूर्ण संबोधन और खास सूक्ष्म विषयके स्वाध्याय वक्त एक-दूसरेका स्मरण - ये इन दोनोंके बीच रहे अद्वितीय प्रेमकी प्रतीति कराता है। एक प्रभावशाली युगपुरुषके प्रेम सानिध्यमें सुदीर्घकालीन योग संप्राप्त होनेसे `सोनेमें सुहागा' जैसी परिस्थिति बन गई।

पुनः जिन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीका दिव्य वाणीके प्रथम चमत्कारिक स्पर्शसे ही विश्वकी उत्तमोत्तम वस्तुकी प्राप्ति कर ली थी, ऐसे पुरुषार्थमूर्ति पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीके समागममें आना हुआ। पाँच साल तक इनके घनिष्ट परिचयमें रहे, जिसमें

पूज्य सोगानीजीकी उग्र अध्यात्म परिणतिके उन्होंने बहुत समीपतासे दर्शन किये और अपनी अध्यात्मदशाको आविर्भूत किया। इस दृष्टिकोणसे पूज्य सोगानीजीका भी उपकार भासित होता था। पूज्य सोगानीजीकी चिर विदाय बाद, उनके पत्रों और तत्त्वचर्चाका संकलन करके 'द्रव्यदृष्टिप्रकाश' जैसे अध्यात्मके उच्च कोटिके ग्रंथका उन्होंने प्रकाशन किया। इस तरह पूज्य सोगानीजी जैसे एकावतारी, अद्वितीय महापुरुषके अक्षरदेह द्वारा उनकी तीव्र ज्ञानदशाका मुमुक्षु समाजको दर्शन कराकर मुमुक्षु समाज पर बहुत बड़ा उपकार किया।

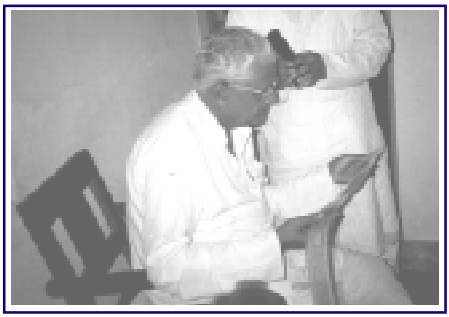

प्राचीन ताड़पत्रीका निरीक्षण
(मुड़बिद्री- इ.स.१९९७)

बादमें पूज्य गुरुदेवश्रीकी सभामें धर्मकी शोभारूप पूज्य बहिनश्री चंपाबहिनके प्रत्यक्ष परिचयमें रहनेका सौभाग्य भी उन्हें संप्राप्त हुआ। पूज्य बहिनश्रीकी सेवा, भक्ति व समर्पणका अपूर्व लाभ भी उन्होंने लिया। इस दुषमकालमें कि जहाँ एक धर्मात्माका योग होना भी मुश्किल है, वहाँ इस भव्यात्माको तीन-तीन धर्मात्माओंका प्रत्यक्ष समागम मिला, यह इनकी सत्संगकी अलौकिक भावनाका ही फल है। इस तरह सारा जीवन प्रगाढ़ सत्संग एवं ज्ञानियोंकी भक्तियुक्त बना।

प्रभावना योग :

पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रभावना योगको देखकर स्वयंको जो प्रभावना संबंधित भावना थी उसे सर्व प्रकारसे उन्होंने साकार की। जिसमें मुख्यतः श्री सीमंधरस्वामी जिन मंदिर - भावनगर, श्री परमागम मंदिर - सोनगढ़, श्री नंदीश्वर जिनालय - सोनगढ़, जैसे जिनमंदिरके

निर्माणकार्यमें गुप्त रहकर अपूर्व भक्तिपूर्वक समर्पण किया। तद्उपरांत पूज्य गुरुदेवश्रीकी भावि पर्याय - तीर्थंकर सूर्यकीर्ति भगवानकी स्थापना अनेक मंदिरोंमें करवाकर पूज्य बहिनश्री चंपाबहिनकी भावनाको मूर्तिमंत स्वरूप दिया।

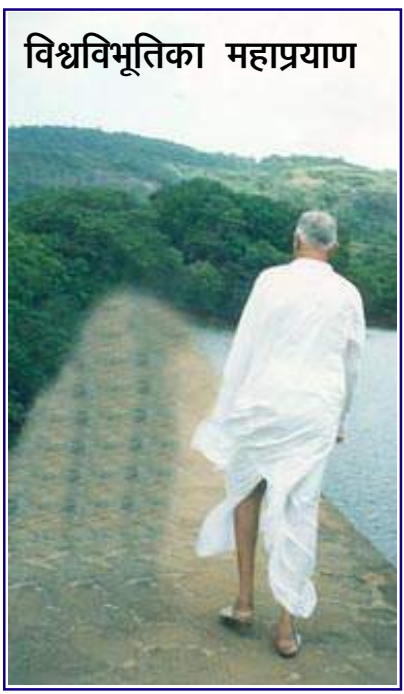

तथापि उनकी प्रेरणासे और पूज्य गुरुदेवश्रीकी सम्मतिपूर्वक शास्त्र प्रकाशनार्थ `श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट,' भावनगर की स्थापना हुई। जिसमेंसे अभी तक लाखों ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, तद्उपरांत वर्तमानमें प्रकाशित हो रहे हैं।

इसके अतिरिक्त उन्होंने विविध आचार्यों व ज्ञानियों द्वारा लिखित करीब १०० शास्त्रोंका, जैसे कि श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री नियमसार, श्री परमात्मप्रकाश, श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, श्री समयसार कलशटीका, श्री अनुभवप्रकाश, श्री अष्टपाहुड, श्री पंचाध्यायी, श्री चिद्विलास, श्री सम्यक्ज्ञान दीपिका, श्री नाटक समयसार, श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत एवं अनेक पुराणोंका गहन अभ्यास करके उनके रहस्यको व मर्मको स्वयंकी मौलिक व सरल शैलीमें प्रवचन करके मुमुक्षुओंको अमृतपान कराया। निष्कारण करुणासे ३५-३५ साल तक उन्होंने समयसारजी, प्रवचनसारजी, अष्टपाहुडजी, कलशटीका, श्रीमद् राजचंद्रजी,

अनुभवप्रकाश, चिद्विलास, बहिनश्रीके वचनामृत, गुरुदेवश्रीके वचनामृत, परमागमसार, स्वानुभूतिदर्शन इत्यादिक अनेक ग्रंथों पर समूहमें स्वाध्याय दिया। इन स्वाध्यायमें मार्गकी विधि, भेदज्ञान, प्रत्यक्ष सत्पुरुष व सत्संगका माहत्म्य, सत्पुरुषकी भक्ति, भावना, दर्शनमोहकी भयंकरता इत्यादि अनेक विषयों पर प्रकाश डाला। तद्उपरांत सातिशय ज्ञानयोग और वचनयोग द्वारा मुमुक्षुजीवोंको वर्तमान भूमिकासे आगे बढ़कर मोक्षमार्ग पर्यंत पहुँचनेके क्रमका, स्वयंकी मौलिक अनुभवपूर्ण शैलीमें सुव्यवस्थित प्रतिपादन करके सारे मुमुक्षु जगत पर अविस्मरणीय उपकार किया है। वर्तमानमें करीब ५००० प्रवचनोंकी ऑडियो केसेट भावनगरमें उपलब्ध है। भारतमें व विदेशमें भी जिनमार्गकी प्रभावनाका कार्य उन्होंने किया है।

इसके अलावा स्वयंकी प्रायोगिक शैलीमें `निर्भ्रांतदर्शनकी पगडंडी, प्रयोजन सिद्धि, तत्त्वानुशीलन-१-२-३, मुमुक्षुता आरोहण क्रम, सम्यक्दर्शनके सर्वोत्कृष्ट निवासभूत छः पदका अमृत पत्र, परिभ्रमणके प्रत्याख्यान, आत्मयोग' इत्यादि ग्रंथोकी रचना की तथापि `अनुभव संजीवनी' कि जिसमें स्वयंके अंतर मंथनसे स्फुरित वचनामृतोंकी समर्थ रचनासे जन्म-मरणकी जटिल समस्याका हल करनेके लिए अति उपकारी मार्गदर्शन दिया है। तथापि उन्होंने `ज्ञानामृत' `द्रव्यदृष्टिप्रकाश' `परमागमसार' `भगवान-आत्मा,' `विधि विज्ञान,' `दूसरा कुछ न खोज,' `धन्य आराधना,' `अध्यात्म पराग,' `जिण सासणं सव्वं' इत्यादि अनेक ग्रंथ संकलन और विवेचनके रूपमें मुमुक्षु जगतको दिये हैं।

पूर्वमें अध्यात्ममूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके पंच परमागम व अन्य परमागमों पर हुए विशिष्ट प्रवचनोंको ध्वनिमुद्रित केसेट परसे अक्षरसः पुस्तकारूढ़ प्रकाशित हो, वैसी उनकी विचारधारा और भावनाके फलस्वरूप `प्रवचन रत्नाकर' भाग १ से ११ प्रकाशित करनेमें उनका बहुमूल्य मार्गदर्शन व योगदान रहा।

स्मरणांजलि

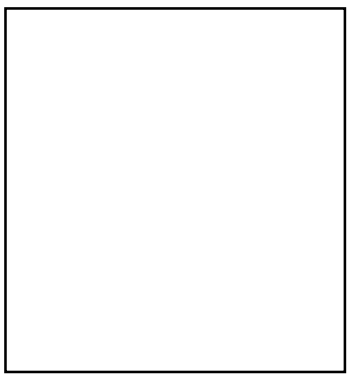

जन्म :
ता-२-१०-१९३४

देह विलय :
ता. १८-४-१९९८

परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीके प्रति आपकी अनन्य भक्ति, अपूर्व निष्ठा एवं अंतरसे उनके प्रतिका आपका अनहद प्रेम इत्यादि सद्‌गुण हमारे लिये प्रेरणाके द्योतक है। पिछले छः सालसे पू. 'भाईश्री' शशीभाई के सत्संग योगमें रहते हुए आप कृपालुदेवके मार्ग पर चलनेके हेतुसे मार्गदर्शन प्राप्त करते थे तथापि उन्हीं की प्रेरणासे आप वचनामृतका भावपूर्वक रसपान करते थे।

अंतिम क्षणोंमें भी आपश्रीने उनका ही चिंतन व स्मरण करते हुए शांत चित्तसे आयुष्य पूर्ण करके मनुष्यभवको सार्थक किया है; तथापि धर्मकी प्राप्तिकी भावनारूप कमाई करके प्रयाण करनेवाली आपकी आत्माको हमलोग भावसे भिगी स्मरणांजली अर्पित करते हैं और भविष्यमें एक सत्संगी के रूपमें आपका योग हो ऐसी भावना भाते हैं।

आपश्रीने सत्‌देव, गुरु और धर्मका आश्रय लेकर हमें इससे धर्मकी आराधना करनेकी जो अमूल्य प्रेरणा एवं संस्कारकी मुड़ी दी है, उसीको हमलोग सच्चा विरसा मानते हैं, और उसको हमारे जीवनमें अंगिकार करके आत्महितकी दिशामें हमलोग शीघ्र प्रगति करें ऐसी प्रयाचना करते हैं।

ली. आपका परिवार
अनसुया हसमुखभाई अजमेरा,
नितीन अजमेरा, पुनिता अजमेरा - संदिप अजमेरा, चारु अजमेरा

पौत्रीओं : सिद्धि, आयुषी, कीना, शैली